वार्षिक रु. ६० मूल्य रु. ८.००

रामकृष्ण मिशन
विवेकानन्द आश्रम,
रायपुर (छ.ग.)

वर्ष ४८ अंक १२
दिसम्बर २०१०

॥ आत्मनो मोक्षार्थं जगद्धिताय च ॥

विवेक-ज्योति

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द भावधारा से अनुप्राणित

हिन्दी मासिक

दिसम्बर २०१०

प्रबन्ध सम्पादक

स्वामी सत्यरूपानन्द

सम्पादक

स्वामी विदेहात्मानन्द

वर्ष ४८
अंक १२

वार्षिक ६०/– **एक प्रति ८/–**

५ वर्षों के लिये – रु. २७५/–
आजीवन (२५ वर्षों के लिए) – रु. १,२००/–
(सदस्यता -शुल्क की राशि स्पीडपोस्ट मनिआर्डर से भेजें अथवा बैंक-ड्राफ्ट – 'रामकृष्ण मिशन' (रायपुर, छत्तीसगढ़) के नाम बनवाएँ

विदेशों में – वार्षिक २० डॉलर; आजीवन २५० डॉलर (हवाई डाक से) १२५ डॉलर (समुद्री डाक से)

संस्थाओं के लिये –
वार्षिक ९०/– ; ५ वर्षों के लिये – रु. ४००/–

रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम,
रायपुर – ४९२००१ (छ.ग.)

विवेक-ज्योति दूरभाष : ०९८२७१ ९७५३५

आश्रम : ०७७१ – २२२५२६९, २२२४११९
(समय : ८.३० से ११.३० और ३ से ६ बजे तक)

अनुक्रमणिका

मुद्रक : संयोग ऑफसेट प्रा. लि., बजरंगनगर, रायपुर (फोन : ८१०९१ २७४०२)

लेखकों से निवेदन

पत्रिका के लिये रचना भेजते समय निम्न बातों पर ध्यान दें –

(१) धर्म, दर्शन, शिक्षा, संस्कृति तथा किसी भी जीवनोपयोगी विषयक रचना को 'विवेक-ज्योति' में स्थान दिया जाता है ।

(२) रचना बहुत लम्बी न हो । पत्रिका के दो या अधिक-से-अधिक चार पृष्ठों में आ जाय । पाण्डुलिपि फूलस्केप रूल्ड कागज पर दोनों ओर यथेष्ट हाशिया छोड़कर सुन्दर हस्तलेख में लिखी या टाइप की हो । भेजने के पूर्व एक बार स्वयं अवश्य पढ़ लें ।

(३) लेख में आये उद्धरणों के सन्दर्भ का पूरा विवरण दें ।

(४) आपकी रचना डाक में खो भी सकती है, अत: उसकी एक प्रतिलिपि अपने पास अवश्य रखें । अस्वीकृति की अवस्था में वापसी के लिये अपना पता लिखा हुआ एक लिफाफा भी भेजें ।

(५) 'विवेक-ज्योति' में प्रकाशनार्थ कवितायें इतनी संख्या में आती हैं कि उनका प्राप्ति-संवाद देना सम्भव नहीं होता । स्वीकृत होने पर भी उसके प्रकाशन में ६-८ महीने तक लग सकते हैं ।

(६) अनुवादित रचनाओं के मूल स्रोत का पूरा विवरण दिया जाय तथा उसकी एक प्रतिलिपि भी संलग्न की जाय ।

(७) 'विवेक-ज्योति' में प्रकाशित लेखों में व्यक्त मतों की पूरी जिम्मेदारी लेखक की होगी और स्वीकृत रचना में सम्पादक को यथोचित संशोधन करने का पूरा अधिकार होगा ।

(८) 'विवेक-ज्योति' के लिये भेजी जा रही रचना यदि इसके पूर्व कहीं अन्यत्र प्रकाशित हो चुकी हो या प्रकाशनार्थ भेजी जा रही हो, तो उसका भी उल्लेख अवश्य करें । वैसे इसमें मौलिक तथा अप्रकाशित रचनाओं को ही प्राथमिकता दी जाती है ।

सदस्यता के नियम

(१) 'विवेक-ज्योति' पत्रिका के सदस्य किसी भी माह से बनाये जाते हैं। सदस्यता-शुल्क की राशि यथासम्भव स्पीड-पोस्ट मनिआर्डर से भेजें या बैंक-ड्राफ्ट - 'रामकृष्ण मिशन' (रायपुर, छत्तीसगढ़) के नाम बनवायें। यह राशि भेजते समय एक अलग पत्र में अपना पिनकोड सहित पूरा पता और टेलीफोन नम्बर आदि की पूरी जानकारी भी स्पष्ट रूप से लिख भेजें ।

(२) पत्रिका को निरन्तर चालू रखने हेतु अपनी सदस्यता की अवधि पूरी होने के पूर्व ही नवीनीकरण करा लें ।

(३) पत्रिका न मिलने की शिकायत माह पूरा होने पर ही करें । उसके बाद अंक उपलब्ध रहने पर ही पुन: प्रेषित किया जायेगा ।

(४) अंक सुरक्षित पाने हेतु प्रति अंक ६/- रूपये अतिरिक्त खर्च कर इसे वी.पी. पोस्ट से मँगाया जा सकता है । यह राशि प्रति माह अंक लेते समय पोस्टमैन को देनी होगी, अत: इसे हमें मत भेजें ।

(५) सदस्यता, एजेंसी, विज्ञापन या अन्य विषयों की जानकारी के लिये 'व्यवस्थापक, विवेक-ज्योति कार्यालय' को लिखें ।

विवेक-चूडामणि

- श्री शंकराचार्य

ज्ञानेन्द्रियाणि च मनश्च मनोमयः स्यात्
कोशो ममाहमिति वस्तुविकल्पहेतुः ।
संज्ञादिभेदकलनाकलितो बलीयां-
स्तत्पूर्वकोशमभिपूर्य विजृम्भते यः।।१६७।।

अन्वय – ज्ञान-इन्द्रियाणि च मनः च मनोमयः कोशः स्यात्, 'अहं-मम'-इति वस्तु-विकल्प-हेतुः संज्ञा-आदि-भेद-कलना-कलितः बलीयान्, यः तत्-पूर्वकोशं अभिपूर्य विजृम्भते ।

अर्थ – पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ (श्रोत्र, त्वचा, नेत्र, घ्राण व जिह्वा) और मन – एक साथ 'मनोमय कोश' कहलाते हैं। यह कोश जागतिक पदार्थों में 'मैं' और 'मेरा' रूपी कल्पना का कारण है। यह नाम आदि भेद करने की शक्ति से युक्त बलवान होने से, पिछले – प्राणमय कोश को व्याप्त करके व्यक्त होता है।

पञ्चेन्द्रियैः पञ्चभिरेव होतृभिः
प्रचीयमानो विषयाज्यधारया ।
जाज्वल्यमानो बहुवासनेन्धनै-
र्मनोमयाग्निर्वहति प्रपञ्चम् ।।१६८।।

अन्वय – पञ्चन्द्रियैः एव पञ्चभिः होतृभिः विषय-आज्य-धारया, प्रचीयमानः बहु-वासना-इन्धनैः जाज्वल्यमानः मनोमय-अग्निः प्रपञ्चम् वहति ।

अर्थ – विविध प्रकार की कामना-वासनाओं रूपी इंधन से जाज्वल्यमान यह 'मनोमय कोश' रूपी अग्नि, पाँच ज्ञानेन्द्रियों रूपी पाँच हवनकर्ताओं के द्वारा, पाँच विषयों (शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध) रूपी घी (आहुति) की धारा से प्रचण्ड होकर इस जगत्-प्रपंच को वहन करती है अर्थात् चलाती है।

न ह्यस्त्यविद्या मनसोऽतिरिक्ता
मनो ह्यविद्या भवबन्धहेतुः ।
तस्मिन्विनष्टे सकलं विनष्टं
विजृम्भितेऽस्मिन्सकलं विजृम्भते ।।१६९।।

अन्वय – मनसः अतिरिक्ता अविद्या न हि अस्ति। मनः हि भव-बन्ध-हेतुः अविद्या, तस्मिन विनष्टे सकलं विनष्टं, अस्मिन् विजृम्भिते सकलं विजृम्भते ।

अर्थ – मन के अतिरिक्त अन्य कोई अविद्या या अज्ञान नहीं है। मन ही भव-बन्धन का कारणभूत अविद्या है। उसके नष्ट हो जाने पर संसार का सब नष्ट हो जाता है; और उसका उदय होने से समस्त विश्व-प्रपंच का उदय हो जाता है।

स्वप्नेऽर्थशून्ये सृजति स्वशक्त्या
भोक्त्रादिविश्वं मन एव सर्वम् ।
तथैव जाग्रत्यपि नो विशेष-
स्तत्सर्वमेतन्मनसो विजृम्भणम् ।।१७०।।

अन्वय – मन एव अर्थशून्ये स्वप्ने स्व-शक्त्या सर्वम् भोक्तृ-आदि विश्वम् सृजति। तथा एव जाग्रति अपि नो विशेषः तत् एतत् सर्वम् मनसः विजृम्भणम् ।

अर्थ – विषयों के अस्तित्व से रहित स्वप्न-अवस्था में मन ही अपनी शक्ति से भोक्ता, भोग्य आदि के रूप में समस्त संसार का सृजन करता है। जाग्रत अवस्था भी उससे भिन्न नहीं है, बल्कि वैसे ही यह सब कुछ मन का ही विलास है।

सुषुप्तिकाले मनसि प्रलीने
नैवास्ति किञ्चित्सकलप्रसिद्धेः ।
अतो मनःकल्पित एव पुंसः
संसार एतस्य न वस्तुतोऽस्ति ।।१७१।।

अन्वय – सुषुप्ति-काले मनसि प्रलीने किञ्चित् एव न अस्ति, – सकल-प्रसिद्धेः अतः संसारः एतस्य पुंसः मनःकल्पितः एक वस्तुतः न अस्ति ।

अर्थ – सुषुप्ति अर्थात् प्रगाढ़ निद्रा के समय मन के लीन हो जाने पर कुछ भी नहीं रह जाता – यह सबका अनुभव है। अतः यह संसार व्यक्ति की कल्पना मात्र है, वास्तविक नहीं।

श्रीसारदा-वन्दना

– १ –

(छायानट-कहरवा)

हे ज्ञानदायिनी सारदे ।
माया में अब न भुला रखना,
हमको सब विषय असार दे ।।

कर दूर सभी के दुख-दुराव,
जन-मन में उपजा बन्धुभाव;
आशा-तृष्णा का कर मोचन,
सबको निज स्नेह-दुलार दे ।।

ममता की दृष्टि सतत रखना,
अज्ञान दोष भय दुख हरना;
अँधियारा है मन-मन्दिर में,
प्रज्ञान-दीप को बार दे ।।

डगमग डोले नैया मेरी,
पतवार एक करुणा तेरी;
अब कर न 'विदेह' विलम्ब जननि,
इस भवसागर से तार दे ।।

– २ –

(वैरागी या बागेश्री–रूपक)

सारदे वर दे, सारदे वर दे ।।
रिक्त है मम प्राण-अन्तर, स्नेह से भर दे ।।

मन विहग चंचल हमारा, भटकता रहता बिचारा,
निज चरण के पिंजरे में, तू इसे धर दे ।। सारदे. ।।

श्रेय पथ पर चल सकें हम, दीप बन कर जल सकें हम,
चेतना से युक्त कर माँ, मूढ़ता हर दे ।। सारदे. ।।

वीर हम तेरे तनय हैं, धीर संयत चिर अभय हैं,
न्याय पथ से च्युत न होवें, वज्र-अन्तर दे ।। सारदे. ।।

भारती की साधना में, सत्य की आराधना में,
हम स्वयं को होम कर दें, अग्नि में सर दे ।। सारदे. ।।

– 'विदेह'

भारत को आह्वान

स्वामी विवेकानन्द

(स्वामीजी के कुछ चुनी हुई उक्तियों का एक संकलन 'Thus Spake Vivekananda' शीर्षक के साथ मद्रास के श्रीरामकृष्ण मठ से प्रकाशित हुआ था। उसी का हिन्दी अनुवाद हम क्रमश: प्रकाशित कर रहे हैं। हर उक्ति के साथ १० खण्डों वाले 'विवेकानन्द साहित्य' ग्रन्थ की खण्ड-संख्या तथा पृष्ठ-संख्या भी दी गई है। उद्धरण किसी अन्य ग्रन्थ का होने पर उसका तदनुरूप उल्लेख किया गया है। – सं.)

* ऐ भारत ! तुम मत भूलना कि तुम्हारी स्त्रियों का आदर्श सीता, सावित्री, दमयन्ती हैं; मत भूलना कि तुम्हारे उपास्य सर्वत्यागी उमानाथ शंकर हैं; मत भूलना कि तुम्हारा विवाह, धन और तुम्हारा जीवन इन्द्रिय-सुख के लिए – अपने व्यक्तिगत सुख के लिए – नहीं है; मत भूलना कि तुम जन्म से ही 'माता' के लिए बलिस्वरूप रखे गये हो; मत भूलना कि तुम्हारा समाज उस विराट् महामाया की छाया मात्र है; तुम मत भूलना कि नीच, अज्ञानी, दरिद्र, चमार और मेहतर तुम्हारा रक्त और तुम्हारे भाई हैं। ऐ वीर! साहस का आश्रय लो। गर्व से बोलो कि मैं भारतवासी हूँ और प्रत्येक भारतवासी मेरा भाई है। (९.२२८)

* बोलो कि अज्ञानी भारतवासी, निर्धन भारतवासी, ब्राह्मण भारतवासी, चाण्डाल भारतवासी, सब मेरे भाई हैं; तुम भी कटिमात्र वस्त्रावृत होकर गर्व से पुकारकर कहो कि भारतवासी मेरा भाई है, भारतवासी मेरे प्राण हैं, भारत की देव-देवियाँ मेरे ईश्वर हैं, भारत का समाज मेरी शिशु-शय्या, मेरे यौवन का उपवन और मेरे वार्द्धक्य की वाराणसी है। भाई, बोलो कि भारत की मिट्टी मेरा स्वर्ग है, भारत के कल्याण में मेरा कल्याण है; और रात-दिन कहते रहो कि – "हे गौरीनाथ! हे जगदम्बे! मुझे मनुष्यत्व दो; माँ, मेरी दुर्बलता और कापुरुषता दूर कर दो, मुझे मनुष्य बनाओ।" (९.२२८)

* ऐ भारत ! यही विकट भय का कारण है। हम लोगों में पाश्चात्य जातियों की नकल करने की इच्छा ऐसी प्रबल होती जाती है कि भले-बुरे का निश्चय अब विचार-बुद्धि, शास्त्र या हिताहित ज्ञान से नहीं किया जाता। गोरे लोग जिस भाव और आचार की प्रशंसा करें, वही अच्छा है और वे जिसकी निन्दा करें, वही बुरा! अफ़सोस! इससे बढ़कर मूर्खता का परिचय और क्या होगा? ... क्या दूसरों की ही हाँ में हाँ मिलाकर, दूसरों की ही नकल कर, परमुखापेक्षी होकर इन दासों की सी दुर्बलता, इस घृणित, जघन्य निष्ठुरता से ही तुम बड़े-बड़े अधिकार प्राप्त करोगे? क्या इसी लज्जास्पद कापुरुषता से तुम वीरभोग्या स्वाधीनता प्राप्त करोगे? (९.२२६,२२८)

* तुम सदा याद रखना कि हमारी सामाजिक प्रथाओं के उद्देश्य ऐसे महान् हैं, जैसे संसार के किसी और देश की प्रथाओं के नहीं हैं। मैंने संसार में प्राय: सर्वत्र जाति-पाँति का भेदभाव देखा है, पर उद्देश्य ऐसा महिमामय नहीं है। अतएव, जब जातिभेद का होना अनिवार्य है, तब उसे धन पर खड़ा करने की अपेक्षा पवित्रता और आत्मत्याग के ऊपर खड़ा करना कहीं अच्छा है। ... ऊँची जातियों को नीची करने, मनचाहे आहार-विहार करने और क्षणिक सुख-भोग के लिए अपने अपने वर्णाश्रम-धर्म की मर्यादा तोड़ने से इस जातिभेद की समस्या हल नहीं होगी। इसकी मीमांसा तभी होगी जब हम लोगों में से प्रत्येक मनुष्य वेदान्ती धर्म का आदेश पालन करने लगेगा, जब हर कोई सच्चा धार्मिक होने की चेष्टा करेगा, और प्रत्येक व्यक्ति आदर्श ब्राह्मण बन जायगा। (५.९५,९४)

* तुम आर्य हो या अनार्य, ऋषि-सन्तान हो, ब्राह्मण हो या अत्यन्त नीची जाति के ही क्यों न हो, इस भारतभूमि के प्रत्येक निवासी के प्रति तुम्हारे पूर्वजों का दिया हुआ एक महान् आदेश है। तुम सबके प्रति बस एक ही आदेश है कि चुपचाप बैठे रहने से काम न होगा। निरन्तर उन्नति के लिए चेष्टा करते रहना होगा। ऊँची से ऊँची जाति से लेकर नीची से नीची जाति के लोगों (पैरिया) को भी ब्राह्मण होने की चेष्टा करनी होगी। (५.९४)

* आध्यात्मिक साधनासम्पन्न महात्यागी ब्राह्मण ही हमारे आदर्श हैं। इस ब्राह्मण-आदर्श से मेरा क्या मतलब है? वही आदर्श ब्राह्मणत्व है, जिसमें सांसारिकता एकदम न हो और असली ज्ञान पूर्ण मात्रा में विद्यमान हो। हिन्दू जाति का यही आदर्श है। (५.९३)

* आजकल मूर्ति-पूजा को गलत बताने की प्रथा सी चल पड़ी है, और सब लोग बिना किसी आपत्ति के उसमें विश्वास भी करने लग गये हैं। मैंने भी एक समय ऐसा ही सोचा था और उसके दण्डस्वरूप मुझे ऐसे व्यक्ति के चरण-कमलों में बैठ कर शिक्षा ग्रहण करनी पड़ी, जिन्होंने सब कुछ मूर्तिपूजा के ही द्वारा प्राप्त किया था; और वे थे श्रीरामकृष्ण परमहंस। यदि मूर्ति-पूजा के द्वारा श्रीरामकृष्ण जैसे व्यक्ति उत्पन्न हो सकते हैं, तब तुम क्या पसन्द करोगे – सुधारकों

का धर्म, या मूर्तिपूजा? मैं इस प्रश्न का उत्तर चाहता हूँ। यदि मूर्तिपूजा के द्वारा इस प्रकार श्रीरामकृष्ण परमहंस उत्पन्न हो सकते हों, तो और हजारों मूर्तियों की पूजा करो। प्रभु तुम्हें सिद्धि दें ! जिस किसी भी उपाय से हो सके, इस प्रकार के महापुरुषों की सृष्टि करो।

इसके बावजूद मूर्ति-पूजा की निन्दा की जाती है ! क्यों? यह कोई नहीं जानता। शायद इसलिए कि हजारों वर्ष पहले किसी यहूदी ने इसकी निन्दा की थी। अर्थात् उसने अपनी मूर्ति को छोड़कर और सब की मूर्तियों की निन्दा की थी। उस यहूदी ने कहा था, यदि ईश्वर का भाव किसी विशेष प्रतीक या सुन्दर प्रतिमा द्वारा प्रकट किया जाय, तो यह भयानक दोष है, एक जघन्य पाप है; परन्तु यदि उसका अंकन एक सन्दूक के रूप में किया जाय, जिसके दोनों किनारों पर दो देवदूत बैठे हैं और ऊपर बादल का एक टुकड़ा लटक रहा है, तो वह बहुत ही पवित्र, पवित्रतम होगा। यदि ईश्वर पेंडकी का रूप धारण करके आये, तो वह महापवित्र होगा; पर यदि वह गाय का रूप लेकर आये, तो वह मूर्ति-पूजकों का कुसंस्कार होगा ! – उसकी निन्दा करो। दुनिया का बस यही भाव है। (५.११३)

* क्या भारत मर जायगा? तब तो संसार से सारी आध्यात्मिकता का समूल नाश हो जायगा, सारे सदाचारपूर्ण आदर्श जीवन का विनाश हो जायगा, धर्मों के प्रति सारी मधुर महानुभूति नष्ट हो जायगी, सारी भावुकता का भी लोप हो जायगा। और उसके स्थान में कामरूपी देव और विलासितारूपी देवी राज्य करेगी। धन उनका पुरोहित होगा। प्रतारणा, पाशविक बल और प्रतिद्वन्द्विता, ये ही उनकी पूजा-पद्धति होगी और मानवात्मा उनकी बलिसामग्री हो जायगी। ऐसी दुर्घटना कभी हो नहीं सकती। क्रियाशक्ति की अपेक्षा सहनशक्ति कई गुना बड़ी होती है। प्रेम का बल घृणा के बल की अपेक्षा अनन्त गुना अधिक है। (९.३७७)

* भारत का पुनरुत्थान होगा, पर वह जड़ की शक्ति से नहीं, वरन् आत्मा की शक्ति द्वारा। वह उत्थान विनाश की ध्वजा लेकर नहीं, वरन् शान्ति और प्रेम की ध्वजा से – संन्यासियों के वेश से – धन की शक्ति से नहीं, बल्कि भिक्षापात्र की शक्ति से सम्पादित होगा। ... अपने अन्तःस्थित ब्रह्म (दिव्यता) को जगाओ, जो तुम्हें क्षुधा-तृष्णा, शीत-उष्ण सहन करने में समर्थ बना देगा। विलासपूर्ण भवनों में बैठे-बैठे जीवन की सभी सुखसामग्री से घिरे हुए रहना और धर्म की थोड़ी-सी चर्चा कर लेना अन्य देशों में भले ही शोभा दे, पर भारत को तो स्वभावतः सत्य की इससे कहीं अधिक पहचान है। वह तो प्रकृति से ही अधिक सत्य-प्रेमी है। वह कपटवेश को अपनी अन्तःशक्ति से ही ताड़ जाता है। तुम लोग त्याग करो, महान् बनो। कोई भी बड़ा कार्य बिना त्याग के नहीं किया जा सकता। (९.३८०, ३८१)

* अपने आरामों का, अपने सुखों का, अपने नाम, यश और पदों का – इतना ही नहीं, अपने जीवन तक का – त्याग (समर्पण) करो और मनुष्यरूपी शृंखला से ऐसा पुल बनाओ, जिस पुल पर से करोड़ों लोग इस संसार-सागर को पार कर जायें। समस्त मंगलकारी शक्तियों को एकत्र करो। किस ध्वजा के नीचे तुम अग्रसर हो रहे हो, इसकी परवाह मत करो। तुम्हारी ध्वजा का रंग हरा, नीला या लाल कुछ भी हो, उसकी चिंता मत करो, बल्कि सभी रंगों को एक में मिला दो और उससे उस अत्युज्ज्वल श्वेत रंग का निर्माण करो, जो कि प्रेम का रंग है। हमें तो कर्म ही करना है, फल अपने आप होता रहेगा। यदि कोई सामाजिक बन्धन तुम्हारे ईश्वर-प्राप्ति के मार्ग में बाधक है, तो आत्मशक्ति के सामने अपने आप ही वह टूट जायगा। भविष्य मुझे दीखता नहीं और मैं उसे देखने की चिंता भी नहीं करता। परन्तु मैं अपने सामने यह एक सजीव दृश्य तो अवश्य देख रहा हूँ कि हमारी यह प्राचीन माता पुनः एक बार जाग्रत होकर अपने सिंहासन पर नवयौवनपूर्ण और पूर्व की अपेक्षा अधिक महा महिमान्वित होकर विराजी है। शान्ति और आशीर्वाद के वचनों के साथ सारे संसार में उसके नाम की घोषणा कर दो। (९.३८१)

* अतएव, ऐ मेरे भावी सुधारको, मेरे भावी देशभक्तो, तुम अनुभव करो। क्या तुम अनुभव करते हो? क्या तुम हृदय से अनुभव करते हो कि देव और ऋषियों की करोड़ों सन्तानें आज पशुतुल्य हो गयी हैं? क्या तुम हृदय से अनुभव करते हो कि लाखों आदमी आज भूखों मर रहे हैं, और लाखों लोग शताब्दियों से इसी भाँति भूखों मरते आये हैं? क्या तुम अनुभव करते हो कि अज्ञान के काले बादल ने सारे भारत को ढक लिया है? क्या तुम यह सब सोचकर बेचैन हो जाते हो? क्या इस भावना ने तुमको निद्राहीन कर दिया है? क्या यह भावना तुम्हारे रक्त के साथ मिलकर तुम्हारी धमनियों में बहती है? क्या वह तुम्हारे हृदय के स्पन्दन से मिल गयी है? क्या उसने तुम्हें पागल-सा बना दिया है? क्या देश की दुर्दशा की चिन्ता ही तुम्हारे ध्यान का एकमात्र विषय बन बैठी है? और क्या इस चिन्ता में विभोर हो जाने से तुम अपने नाम-यश, पुत्र-कलत्र, धन-सम्पत्ति, यहाँ तक कि अपने शरीर की भी सुध बिसर गये हो? क्या तुमने ऐसा किया है? यदि 'हाँ', तो जानो कि तुमने देशभक्त होने की पहली सीढ़ी पर पैर रखा है – हाँ, केवल पहली ही सीढ़ी पर ! (५.१२०-२१)

❑❑❑

रामकथा जगपावनि गंगा (२)

पं. रामकिंकर उपाध्याय

(निम्नलिखित प्रवचन पण्डितजी द्वारा रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर के तत्त्वावधान में २५ मार्च १९७४ ई. को प्रदत्त हुआ था। 'विवेक-ज्योति' में प्रकाशनार्थ इसे टेप से लिपिबद्ध करने का श्रमसाध्य कार्य किया है श्रीराम संगीत महाविद्यालय, रायपुर के सेवानिवृत्त प्राध्यापक श्री राजेन्द्र तिवारी ने। – सं.)

पार्वतीजी ने भगवान शंकर से पूछा – इस कथा के अधिकारी कौन हैं? तो उन्होंने रोक लगा दी – यह कथा दुष्टों तथा हठी लोगों को बिल्कुल नहीं सुनाना चाहिये –

यह न कहिअ सठही हठसीलहि ।। ७/१२७/३

तुलसीदासजी से पूछा गया – आप किसको कथा सुना रहे हैं? बोले – भाई, मेरा श्रोता तो मेरा मन ही है। पूछा – उस मन में क्या विशेषता है? उसमें पार्वतीजी जैसी श्रद्धा है या गरुड़जी जैसा ज्ञान है, या भरद्वाज जैसा मनन है? उन्होंने कहा – न हमारा मन श्रद्धालु है, न हमारा मन विचारक है, न हमारा मन मननशील है। पूछा – तो आखिर वह है क्या? बोले – मेरे मन का एक ही विशेषण हैं – वह दुष्ट है –

सुनहि संतत सठ मना ।। विनय प., २१५

शंकरजी ने कहा था – दुष्ट को मत सुनाना। और गोस्वामीजी कहते – अरे, दुष्ट मन, तू सुन। इसका क्या अर्थ है? बोले – कैलाश पर्वत पर यह प्रतिज्ञा चल सकती है कि दुष्ट न सुनें, परन्तु अगर कलियुग में हम यह प्रतिज्ञा करें, तब तो हम अपने मन को भी नहीं सुना पावेंगे।

निकृष्ट दुष्ट से लेकर विशिष्ट सन्त तक – सभी प्रभु के मंगलमय चरित्र का रसास्वादन कर सकें, इसलिये गोस्वामीजी रामकथा को देवभाषा संस्कृत की गंगोत्री से नीचे उतारकर लोकभाषा के हरिद्वार में ले आते हैं। भगवान का चरित्र भी इसी का साक्षात् निदर्शन है। प्रभु निरन्तर नीचे उतरते हैं। गोस्वामीजी के ग्रन्थ में सुगमता का तत्त्व विलक्षण है। जरा इस बात पर विचार करके देखिये। **छहों शास्त्र सब ग्रन्थन को रस –** 'मानस' की रचना करते समय उन्होंने सभी शास्त्रों तथा सभी ग्रन्थों से रस-संग्रह किया। वे कहते हैं –

नाना-पुराण-निगमागम-सम्मतं यद्
रामायणे निगदितं क्वचिद्-अन्यतोऽपि।
स्वान्तःसुखाय तुलसी रघुनाथगाथा
भाषा-निबन्धम्-अति-मंजुलम्-आतनोति।।१/७

– विभिन्न पुराणों, वेदों तथा तंत्रों से जो सम्मत है, जो रामायण में वर्णित है और कुछ अन्यत्र से भी जो प्राप्त हुआ, उसे लेकर तुलसीदास अपने अन्तःकरण के सुख के लिए श्री रघुनाथजी की कथा को अत्यन्त मनोहर भाषा में रचकर प्रस्तुत करता है।

इस बात पर मैं सर्वाधिक चमत्कृत होता हूँ कि रामलीला में दर्शकों को सबसे ज्यादा आनन्द लक्ष्मण-परशुराम-संवाद के समय आता है। मैं तो कहूँगा कि रामायण का सबसे बड़ा दार्शनिक संवाद भी यही है। यहाँ विशेषता यह है कि जो सबसे गम्भीर संवाद है, वही सबसे मनोरंजक भी लगता है। तुलसी के काव्य में यह एक विलक्षण तत्त्व है कि परशुराम और लक्ष्मण के संवाद में छोटे-से-छोटा बालक भी रस लेता है। उसमें बड़ी भीड़ हुआ करती है। इसी प्रसंग में एकत्र भीड़ को देखकर हमारे एक प्रसिद्ध सन्त ने कहा था – देखो, यह समाज की मनोवृत्ति का चित्र है, निराशा का चित्र है। कैसे? बोले – रामलीला में भी जिस दिन झगड़ा हो, उसी दिन अधिक भीड़ होती है; शान्ति के दिन नहीं होती।

आप यदि परशुराम-लक्ष्मण-संवाद को पढ़ें, तो आपको भी निश्चित रूप से प्रतीत होने लगेगा कि सचमुच यह कोई विशेष दार्शनिक प्रसंग नहीं है – बस, राम के विरुद्ध राम की लड़ाई। विचित्र बात है – आमने सामने राम हैं। रावण और राम सामने होते, तो समझ में आता है। परन्तु इधर भी राम हैं और उधर भी राम हैं। अन्धकार के विरुद्ध प्रकाश का युद्ध तो समझ में आता है, परन्तु प्रकाश के विरुद्ध प्रकाश का युद्ध। परन्तु गोस्वामीजी कहते हैं – परशुराम कौन हैं? – भृगुकुल रूपी कमल को खिलानेवाले सूर्य हैं –

तेहिं अवसर सुनि सिवधनु भंगा ।
आयउ भृगुकुल कमल पतंगा ।। १/२६८/२

और श्रीराम कौन हैं? कहते हैं – भगवान राम जब उस मंच पर खड़े हुए तो मानो उदयाचल में बाल सूर्य का उदय हुआ। उनके लिये भी गोस्वामीजी ने सूर्य की उपमा दी –

उदित उदयगिरि मंच पर रघुबर बालपतंग ।।१/२५४

दोनों ही सूर्य हैं। अब थोड़ा विचार करें – रावण को सहस्रबाहु ने हरा दिया और सहस्रबाहु को भगवान परशुराम ने हराया। सीधी-सी बात है कि जब रावण को हरानेवाले को हरानेवाला अवतार उस समय था, तो श्रीराम के अवतार की क्या आवश्यकता थी? परशुराम जब सहस्रबाहु को दण्ड दे सकते थे, तो क्या रावण को दण्ड नहीं दे सकते थे? तो एक अवतार के होते हुए दूसरे अवतार की जरूरत है क्या?

पूरे संवाद में गोस्वामीजी यही उत्तर देना चाहते हैं कि परशुराम के होते भगवान राम की जरूरत थी, इसलिये वे आये और इसकी पृष्ठभूमि यहीं से शुरू हो जाती है। परशुराम पूछते हैं – मूर्ख जनक, बता, धनुष किसने तोड़ा –

कहु जड़ जनक धनुष कै तोरा । १/२७०/३

यह दो महापुरुषों का संवाद है । परशुराम मुनि तो थे ही, सबसे बड़े बलवान भी थे । और महाराज जनक सबसे बड़े ज्ञानी थे । दोनों इस संवाद के आदि और मध्य में क्रोध से भर गये । पहले राजाओं को धनुष तोड़ने में असफल देखकर महाराज जनक को क्रोध आया था –

नृपन्ह बिलोकि जनकु अकुलाने ।
बोले बचन रोष जनु साने ।। १/२५१/६

और धनुष टूटने के बाद परशुराम को क्रोध आया । एक क्रोध इसलिये आ रहा था कि धनुष टूट क्यों नहीं रहा है और दूसरे को क्रोध इसलिये आ गया कि धनुष टूट क्यों गया? दोनों का मतभेद है । मतभेद भले ही हो, परन्तु दो महापुरुषों का वार्तालाप क्या इसी तरह का होता है?

ऐसा इसलिये हुआ कि परशुराम-रूपी नदी में बाढ़ आ गयी थी । नदी में जब तक बाढ़ न हो, तब तक वह जीवन-दायिनी है और यदि उसमें बाढ़ आ जाय, तो वह नदी गाँव को बहा देगी । गोस्वामीजी से किसी ने पूछा – परशुराम के होते राम की क्या आवश्यकता थी? बोले – बाढ़ को रोकने के लिये घाट की आवश्यकता होती है । परशुराम का क्रोध बाढ़ से उफनती वेगवती नदी है और श्रीराम उस बाढ़ को रोकने के लिये घाट बनकर आ गये –

घोर धार भृगुनाथ रिसानी ।
घाट सुबद्ध राम बर बानी ।। १/४०/४

तो दोनों में अन्तर कहाँ है । उनमें से एक प्रणम्य बनकर आये । परशुराम कौन हैं? जिन्हें सब प्रणाम करते हैं । बड़ा कौन है? परशुराम की परिभाषा है – जिसे सब प्रणाम करें, वह बड़ा है । परन्तु भगवान राम की परिभाषा बिल्कुल उल्टी है । जिसको सब प्रणाम करें वह नहीं, बल्कि जो सबको प्रणाम करे, वह बड़ा है । जो यह मानकर चलेगा कि सब हमें प्रणाम करें, वह अनर्थ करेगा । भगवान राम तो परशुराम के चरणों में भी प्रणाम करते हैं? और प्रणाम के बाद दोनों आमने-सामने खड़े हैं । परशुराम सारी सभा का ध्यान से निरीक्षण कर रहे है कि धनुष किसने तोड़ा होगा ! क्योंकि श्रीराम के मुख के भाव को देखकर उन्होंने कल्पना भी नहीं की कि ये धनुष तोड़नेवाले हो सकते हैं ।

परशुराम नदी हैं, इसलिये बाढ़ आ गयी; श्रीराम समुद्र हैं, उनमें बाढ़ क्या आयेगी ! दोनों के बीच अन्तर यही है – अपूर्ण और पूर्ण का अन्तर, नदी और समुद्र का अन्तर । श्रीराम रूपी समुद्र में क्या बाढ़ आयेगी? परशुराम को लगा था कि धनुष तोड़नेवाले में अवश्य आयी होगी, जिसने तोड़ा होगा, वह बड़े गर्व के साथ खड़ा होगा । पहचान नहीं सके, तो जनक से पूछा – मूर्ख जनक, बता, धनुष किसने तोड़ा –

कहु जड़ जनक धनुष कै तोरा । १/२७०/३

जनक डर रहे हैं कि बता दें, तो राम सामने ही खड़े हैं, कहीं फरसा न चला दें । दोनों रामों में क्या अन्तर है । दोनों शस्त्रधारी हैं । परशुराम परशु रखते हैं और श्रीराम धनुष रखते हैं । पर बड़ी विचित्र बात है ! एक के साथ नाम जुड़ा, तो परशुराम नाम पड़ा, परन्तु राम का नाम धनुषराम नहीं पड़ा । ये परशुराम हैं, तो उनको धनुषराम होना चाहिये था, बल्कि जरूर होना चाहिये था – दो रामों के बीच भेद करने हेतु । तो ये परशुराम बने और वे धनुषराम नहीं बने । क्यों? परशुराम की शस्त्र से इतनी बड़ी आसक्ति हो गयी कि वे समझते हैं कि दुनिया में सबसे बड़ी कोई वस्तु है, तो शस्त्र है । समाज अगर सु-व्यवस्थित रहेगा, तो केवल शस्त्र के द्वारा ही रहेगा, दण्ड के द्वारा ही रहेगा । इसीलिये वे परशु को कन्धे के ऊपर रखते थे और चाहते थे कि लोग मुझे कम देखें, इसे अधिक देखें । भगवान राम अपने शस्त्र – धनुष को कन्धे पर रखते हैं । कन्धे पर फरसा भी रखा जाता है । पर फरसा जो है नीचे से ऊपर जाता है और धनुष ऊपर से नीचे जाता है । श्रीराम मानते है शस्त्र रहे पर सर से नीचे रहे । परशुराम मानते हैं – शस्त्र रहे, पर अपने से ऊपर ही रहे । इससे लोगों को डण्डे की गरिमा का आभास बना रहेगा । परिणाम क्या हुआ?

उनके और लक्ष्मणजी के साथ संवाद में गोस्वामीजी ने बड़ा मनोवैज्ञानिक चित्र प्रस्तुत किया । दो लोग बात करेंगे, तो आमने-सामने ही तो देखेंगे, परन्तु परशुरामजी बात तो लक्ष्मण से कर रहे हैं और देख रहे हैं अपने फरसे की ओर और कहते हैं – मेरे फरसे की ओर देख लो –

बोले चितइ परसु की ओरा ।
रे सठ सुनेहि सुभाउ न मोरा ।। १/२७२/४

तो भी लक्ष्मणजी ने नहीं देखा । परशुरामजी ने फिर कहा – दुष्ट लड़के, तुमने मेरा स्वभाव नहीं सुना । लक्ष्मणजी ने फिर भी नहीं देखा । तो फिर सीधे कह बैठे – मुझसे बात बाद में करो, पहले फरसे को देखो –

परसु बिलोकु महीप कुमारा ।। १/२७२/८

लक्ष्मणजी ने फिर भी नहीं देखा । बोले - अरे, तुमने देखा नहीं? लक्ष्मणजी ने कहा – महाराज, देख तो रहा हूँ, लेकिन फरसे की ओर नहीं । तो किस ओर देख रहे हो? महाराज, मैं फरसा नहीं, जनेऊ देख रहा हूँ –

भृगुसुत समुझि जनेउ बिलोकी ।। १/२७३/५

फरसा देखूँगा, तो लड़ने का मन होगा । धनुष देखूँगा, तो प्रणाम करने का मन होगा । आप शस्त्र के द्वारा नहीं, ज्ञान के द्वारा ही आदर प्राप्त कर सकते हैं । जनेऊ ज्ञान का प्रतीक

है, ब्राह्मणत्व का प्रतीक है। फरसा शस्त्र का प्रतीक है।

लक्ष्मणजी को इस बात पर हँसी आती है कि कौन जीता – ब्राह्मण या क्षत्रिय? परशुराम समझते थे कि मैंने सारे क्षत्रियों को हरा दिया और लक्ष्मणजी का निश्चित मत है कि जब फरसा ब्राह्मण के सिर के ऊपर चला गया, तो क्षत्रिय ही जीत गया, ब्राह्मण हार गया। ये ब्राह्मण हैं और शस्त्र क्षत्रिय हैं। क्षात्र तेज ऊँचा हो गया। परन्तु इतना ही नहीं भगवान राम जब परशुराम से कहते हैं – आप ब्राह्मण हैं। तो उन्हें सबसे ज्यादा निन्दा इसी बात की लगती है। कहते हैं – मैं ऐसा-वैसा दान लेनेवाला ब्राह्मण नहीं हूँ। मैंने फरसे से यज्ञ किया है। क्या मुझे कोरा ब्राह्मण समझता है? –

केवल मुनि जड़ जानहि मोही ।। १/२७२/५

परशुराम की दृष्टि में उनके द्वारा सृष्टि में किया गया संहार ही सबसे बड़ी वस्तु है। तात्पर्य यह कि परशुराम ने जो कुछ किया, वह उनके ऊपर आरूढ़ हो गया। व्यक्ति जो कुछ करे, उसे स्वयं पर लाद ले, तो वह बोझ बन जायगा। व्यक्ति को चाहिये कि वह अपनी विजय को, अपनी विशेषताओं को बोझ न बनने दे।

भगवान राम और परशुराम आमने-सामने खड़े हैं। जनक सोचते हैं कि परशुराम कहीं फरसा न चला दें। इसलिये वे उत्तर नहीं देते हैं। इस पर श्रीराम ने स्वयं कहा – महाराज, धनुष को तोड़नेवाला आपका ही कोई दास होगा –

नाथ संभु-धनु भंजनिहारा ।
होइहि केउ एक दास तुम्हारा ।। १/२७१/१

परशुराम अब भी नहीं समझ पाये कि धनुष तोड़नेवाले ये ही हैं। उनकी कल्पना थी कि धनुष तोड़नेवाला अकड़कर खड़ा होगा। लेकिन राम बिलकुल भी अकड़कर नहीं खड़े थे। परशुराम ने सोचा – धनुष तोड़नेवाला पहले अकड़कर खड़ा रहा होगा, पर मेरे आगमन का समाचार सुनकर अब काँप रहा होगा। लेकिन सभा में इतने अधिक लोग काँप रहे थे कि किसे धनुष तोड़नेवाला माना जाय। भगवान राम बोले – धनुष तोड़नेवाला आपका ही कोई दास रहा होगा। परशुराम नहीं समझ पाये। पूछते हैं – तुम किसकी बात कर रहे हो? जिसने शंकरजी का धनुष तोड़ा होगा, वह तो सहस्त्रबाहु के समान हमारा शत्रु होगा –

सुनहु राम जेहिं सिवधनु तोरा ।
सहसबाहु सम सो रिपु मोरा ।। १/२७१/४

भगवान राम की भाषा का प्रयोग देखिये। भगवान राम सीधा कह देते – मैं आपका दास हूँ और मैंने धनुष तोड़ा है। इतनी घुमावदार भाषा बोलने का क्या अर्थ है? भगवान राम ऐसा नहीं मानते और इसलिये गोस्वामीजी ने आगे चलकर भगवान राम की भाषा को मृदु और गूढ़ कहा है –

सुनि मृदु गूढ़ बचन रघुपति के ।
उघरे पटल परसुधर मति के ।। १/२८४/६

जनता वाणी की मृदुता पर आनन्द पाती है और विद्वान् उसकी गूढ़ता पर आनन्द लेता है। गोस्वामीजी कहते हैं – रामकथा विद्वानों को विश्राम देनेवाली, सब मनुष्यों को प्रसन्न करनेवाली और कलियुग के पापों का नाश करनेवाली है –

बुध बिश्राम सकल जन रंजनि।
रामकथा कलि कलुष बिभंजनि ।। १/३०/५

लक्ष्मणजी ने क्या ही बढ़िया उत्तर दिया, कितना सुन्दर उत्तर दिया! विद्वान् कहता है – लक्ष्मणजी विनोद करते हैं, परन्तु बात सिद्धान्त से बिलकुल अलग होकर नहीं कहते हैं। भगवान राम तो स्पष्ट कहते हैं और बड़ी सार्थक बात कहते हैं। परशुराम पूछते हैं – धनुष तोड़नेवाला कौन है? भगवान राम का तात्पर्य था – धनुष जब तक था, तब तक तो उसे तोड़नेवाले की आवश्यकता थी, परन्तु धनुष टूटने के बाद भी धनुष तोड़नेवाला बना रहे, इसका क्या औचित्य है?

कर्म में, बस इसी बुद्धि की आवश्यकता है। अधिकांश लोग हर समय पुराने काम को ही ढोते रहते हैं कि मैं उसका कर्ता हूँ। परन्तु जिस समय आप कोई काम करने आये थे, तब तो ठीक था, परन्तु काम हो जाने के बाद भी अगर आप पुराने बोझ को लादे रहें, तो कठिनाई होगी ही। उदाहरण के लिये व्यक्ति जब तक न्यायाधीश के आसन पर है, तब तक न्यायाधीश रहे, परन्तु उसको चाहिये कि कुर्सी से उतरते ही न्यायाधीश का पद छोड़ दे; और जब घर में आये, तो पति बनकर आये, पिता बनकर आये। यदि वह न्यायाधीश के पद को घर में भी लादकर लायेगा, तो उसका पत्नी और बेटे से झगड़ा हुए बिना नहीं रहेगा। अधिकांश लोगों की समस्या यही है कि वे इसी में अपना बड़प्पन समझते हैं। परशुरामजी में यही कमी है। वे हर समय एक विजेता ही बने रहते हैं।

और भगवान राम? उनके इतने रूप हैं कि कोई समझ ही नहीं सकेगा – कहीं धनुष तोड़ रहे हैं, तो कहीं फुलवारी में फूल तोड़ रहे हैं। धनुष तोड़ना और फूल तोड़ना – दोनों विरोधी कार्य हैं। फूल तोड़ने के लिये क्या कोई माली नहीं था? आदेश दे देते। किसी सेवक से कह देते कि जाओ, फूल तोड़ लाओ। परन्तु वे स्वयं ही पुष्प तोड़ने चले गये। और इतने सुकुमार हैं कि पसीना आ गया –

भाल तिलक श्रम बिन्दु सुहाए ।। १/२३३/३

फिर कठोर भी इतने कि धनुष टूटा, परन्तु उसे तोड़ने में किसी श्रम का उल्लेख नहीं, पसीने की एक बूँद भी नहीं – धनुष को लेते, चढ़ाते और जोर से खींचते हुए किसी ने नहीं देखा, सबने श्रीराम को हाथ में धनुष लिये खड़े देखा –

लेत चढ़ावत खैंचत गाढ़ें ।
काहुँ न लखा देख सबु ठाढ़ें ।। १/२६१/७

अगले ही क्षण देखेंगे – गुरु विश्वामित्र लेटे हैं और राम

ईश्वर होकर भी, शिष्य के रूप में उनके चरण दबा रहे हैं –

मुनिबर सयन कीन्हि तब जाई ।
लगे चरन चापन दोउ भाई ।। १/२२६/३

जब फूल लेने जाते हैं, तो मालियों से पूछकर ही तोड़ते हैं। भगवान राम को अभिमान हो सकता था कि मैं चक्रवर्ती सम्राट् का पुत्र हूँ, अत: मुझे माली से अनुमति लेने की क्या आवश्यकता है? यदि यही मान लें कि जनक के आदरणीय अतिथि हैं, तो भी माली से पूछने की क्या आवश्यकता थी?

प्रभु माली से पूछते हैं – मैं फूल ले सकता हूँ क्या? इसका अर्थ यह है कि उस समय श्रीराम न तो ईश्वर हैं, न राजा हैं और न राजकुमार हैं। – मैं फूल चाहनेवाला हूँ और तुम इसके रक्षक हो। तुम्हारी आज्ञा के बिना हम फूल कैसे ले सकते हैं। प्रभु जितने क्षण के लिये जो कार्य करते हैं, उतने क्षण के लिये वह कर्तव्य स्वीकार कर लेते हैं।

प्रभु ने आगे चलकर एक अन्य भाषा – दार्शनिक भाषा में यही बात कही। परशुराम बोले – मुझसे लड़ो। भगवान राम ने पूछा – लड़ने से क्या होगा? – एक हारेगा। – मैं पहले से ही हार मान लेता हूँ –

सब प्रकार हम तुम्ह सन हारे ।
छमहु बिप्र अपराध हमारे ।। १/२८१/८

परशुराम ने कहा – या तो मुझसे युद्ध करो और नहीं तो आज से अपना राम नाम छोड़ दो, यह भ्रम पैदा करता है –

करु परितोषु मोर संग्रामा ।
नाहिं त छाड़ कहाउब रामा ।। १/२८१/२

भगवान राम बोले – महाराज, आप में और हममें बराबरी क्या? आप में तो ब्राह्मण के नौ गुण हैं –

देव एकु गुनु धनुष हमारें ।
नव गुन परम पुनीत तुम्हारें ।। १/२८२/७

परशुराम ने पूछा – तुम में कितने गुण हैं? भगवान गिना सकते थे कि क्षत्रियों के भी अमुक-अमुक गुण लिखे हुए हैं। परन्तु प्रभु कहते हैं – मुझमें तो कोई गुण हैं ही नहीं और यदि काम चलाने के लिये कोई गुण है, तो केवल धनुष का एक गुण (डोरी) है। अब इस मृदु और गूढ़ वचन की क्या व्याख्या की जाय ! – आप नौ गुण वाले और मुझ में केवल एक गुण। भगवान राम का तात्पर्य क्या है? भागवत में एक सूत्र मिलता है। भगवान से पूछा गया – ''सारे भक्त कहते हैं – सगुण हैं। अब आप ही बताइये कि आप निर्गुण हैं या सगुण?'' भगवान ने कहा – हूँ तो मैं निर्गुण ही, परन्तु भक्तों ने अपना गुण देकर मुझे सगुण बना दिया है –

निर्गुणं मां गुणाः सर्वे भजन्ति निरपेक्षतः ।।

यह महत्त्वपूर्ण बात है। सगुण, स्वदृष्टि से निर्गुण रहेगा, तो वह बन्धन से मुक्त रहेगा और जहाँ उसने जीवन में कर्तृत्व स्वीकार किया, वहीं न्यूनता आ गयी। उन्होंने इसे मान लिया। गुणी बन गये। भगवान कहते हैं – महाराज, मुझमें गुण नहीं है; और है भी तो धनुष में। वह गुण भी कैसा है? श्रीराम जो धनुष रखते हैं, उसकी डोरी हमेशा चढ़ी नहीं रहती, जब आवश्यकता होती है, तब चढ़ा देते हैं।

भगवान राम का तात्पर्य है कि जीवन में कई गुण नहीं, केवल एक ही गुण होना चाहिये। एक समय में केवल एक ही गुण स्वीकार कीजिये; और जो गुण स्वीकार किया जाय, उसको चढ़ाना भी चाहिये और उतारना भी। श्रीराम के पास एक ही गुण है और वह भी हमेशा चढ़ा नहीं रहता। किन्तु परशुराम का फरसा चढ़ना जानता था, उतरना नहीं। जबकि भगवान राम का धनुष चढ़ना और उतरना – दोनों जानता है।

इस संवाद के बाद परशुराम नौ बार 'जय' शब्द के द्वारा भगवान राम की वन्दना करते हैं, मानो अपने सभी नौ गुण उन्हें अर्पित करते हैं। कहते हैं – गुणी बनकर मैं संकट में पड़ गया। अब ये सभी गुण आपको अर्पित करता हूँ –

कहि जय जय जय रघुकुल केतू ।
भृगपति गये बनहि तप हेतू ।। १/२८५/७

भगवान राम के मंगलमय चरित्र को भक्तों ने अवतरित किया है। इस अवतरण की विशेषता क्या है? श्रीराम बच्चों को प्रिय लगते हैं और वृद्धों को भी प्रिय लगते हैं –

कोसलपुर बासी नर नारि बृद्ध अरु बाल ।
प्रानहु ते प्रिय लागत सब कहुँ राम कृपाल ।।१/२०४

इस काव्य की भी यही विशेषता है। बच्चों को आनन्द आ जाय, वृद्धों को आनन्द आ जाय, स्त्रियों को आनन्द आ जाय, भिक्षु को भी आनन्द आ जाय, राजनेता को भी आनन्द आ जाय, दार्शनिक को भी आनन्द आ जाय। एक साथ जो इतने लोगों को आनन्द देने की सामर्थ्य है, वही हरिद्वार में गंगाजी के समान समता और सुगमता का तत्त्व है।

समन्वय का प्रयाग – श्रेय-प्रदान

प्रयाग का अर्थ है – जहाँ गंगाजी ने हाथ फैलाकर यमुना को गोद में ले लिया है। इस काव्य का दूसरा तत्त्व है – समन्वय। **जो चरित्र गंगा और यमुना की भाँति समन्वय का तत्त्व जानता है।** भगवान राम के चरित्र में यह समन्वय का तत्त्व विद्यमान है। गुरु वसिष्ठ और निषाद एक साथ मिल सके, तो भगवान राम के ही चरित्र के कारण ही, अन्यथा नहीं मिल पाते। आदि से अन्त तक श्रीराम सबको मिला रहे हैं। सबको एकसूत्रता में बाँध रहे हैं। अयोध्या से लंका तक की भगवान राम की पूरी यात्रा में आप यही तत्त्व पायेंगे।

दूसरों को श्रेय देना

समन्वय या मिलाने की पराकाष्ठा क्या है? भगवान राम मिलाते-मिलाते उस सीमा तक पहुँच गये। लंका जीतकर अयोध्या लौटने के पश्चात् एक ओर खड़े हैं गुरु वसिष्ठ और

दूसरी ओर खड़े हैं सब बन्दर। और बन्दर भी कैसे हैं – श्रीराम तो वृक्ष के नीचे बैठे हैं और बन्दर ऊपर डाली पर –

प्रभु तरु तर कपि डार पर ... ।। १/२९ क

गोस्वामीजी लिखते हैं – इन सखाओं को बुलाया और उनको सिखाया कि गुरुजी को ऐसे प्रणाम किया जाता है –

पुनि रघुपति सब सखा बोलाए ।
मुनि पद लागहु सकल सिखाए ।। ७/७/५

बड़े अनोखे हैं। लड़ाई जीती, तो ऐसे लोगों के साथ, जो उठना-बैठना तक नहीं जानते। लक्ष्मणजी ने धीरे से कहा – प्रभो, इनको बैठना सिखा दें। प्रभु ने हँसकर कहा – "हम लोग ऊपर के लोगों को नीचे उतारने आये हैं या नीचे से ऊपर उठाने आये हैं। प्रसन्न होना चाहिये। लक्ष्मण, वृक्ष सिर पर रहे, तो क्या हम बुरा मानते हैं? वृक्ष भी तो जड़ है, पर प्रसन्न होते हैं कि वृक्ष छाया किये हुए हैं। इस ममता की छाया में आनन्द नहीं आता क्या? ये कितने प्यार से हमारी रक्षा करते हैं।"

गुरुजी और बन्दरों को मिलाते हुए दोनों का आपस में परिचय कराते हैं। बन्दरों से गुरुजी का परिचय करा रहे हैं, कहते हैं – ये गुरु वशिष्ठजी हमारे पूरे कुल के पूज्य हैं। इन्हीं की कृपा से युद्ध में सारे राक्षस मारे गए हैं –

गुर बसिष्ट कुल पूज्य हमारे ।
इन्ह की कृपाँ दनुज रन मारे ।। ७/७/६

और गुरुजी से कहते हैं – गुरुदेव! लंका का युद्ध तो मानो समुद्र को पार करना था और ये बन्दर उस युद्ध-रूपी समुद्र के जहाज हैं। इन्हीं ने हमें उस समुद्र से पार किया –

ए सब सखा सुनहु मुनि मेरे ।
भए समर सागर कहँ बेरे ।।
मम हित लागि जन्म इन्ह हारे ।
भरतहु ते मोहि अधिक पिआरे ।। ७/७/८

लंका का युद्ध था समुद्र और उसमें मल्लाह और जहाज की आवश्यकता थी। गुरुदेव आपकी कृपा ने मल्लाह का काम किया और इन्होंने जहाज का काम किया, हम तो व्यर्थ ही यश के भागी बन गये। बँटवारा कैसा किया! यह बन्दरों और गुरु को मिलानेवाला बँटवारा है। दोनों को समान श्रेय देने वाला बँटवारा है। यही प्रयाग का संगम है।

समुद्र में गंगा का विलीन हो जाना – समर्पण है। कह सकते हैं गंगा ने यमुना को मिलाया। उस बेचारी का आगे नाम नहीं लिया। आगे चलकर केवल – गंगा-गंगा। यमुना कहां गयी? और **गंगा स्वयं भी आगे बढ़ती जा रही हैं और अन्त में समुद्र में जाकर अपने आप को खो देती हैं।** इसी प्रकार से काव्य का तत्त्व क्या है – सुलभ, समन्वय और अन्त में समर्पण। आजकल खोज हो रही है तुलसी की जन्म-स्थली कहाँ है? वे सरयूपारीण हैं या सनाढ्य? गोस्वामीजी से लोगों ने पूछ दिया – कौन हैं आप? वे बोले – मेरी जाति क्या, मेरी पाँति क्या, मैं तो भगवान् राम का गुलाम हूँ –

तुलसी सर नाम गुलाम हौं राम को ।।

जाति नहीं बतायी, तो लोगों ने कहा – नीच जातिवाला होगा। इस पर वे बोले – "चाहे आप लोग मुझे धूर्त कह लें या अवधूत संन्यासी; या फिर राजपूत या जुलाहा – जो चाहे कह लें। जाति-पाँति की जरूरत तो तब होती है, जब किसी को बेटी-बेटा ब्याहना हो।" पूछा गया – "तुम्हारा कोई सगा-सम्बन्धी भी है क्या? हो तो नाम बता दो।" बोले – "भई! मेरा तो एक ही सम्बन्धी है – भगवान राम। मेरी जाति क्या और पाँति क्या, मैं तो प्रभु राम का गुलाम हूँ!" पूछा गया – "किस मुहल्ले में रहते हो? क्या काम करते हो?" बोले – "माँग कर खाता हूँ और मस्जिद में सो जाता हूँ; मुझे किसी से कुछ भी लेना-देना नहीं है" –

धूत कहौ, अवधूत कहौ,
रजपूतु कहौ, जोलहा कहौ कोऊ ।
काहू की बेटी सों, बेटा न ब्याहब,
काहू की जाति बिगार न सोऊ ।।
तुलसी सरनाम गुलामु है राम को
जाको रुचै सो कहै कछु ओऊ ।।
माँगि के खैबो मसीत को सोइबो ।
लैबो को एकु न दैबे को दोऊ ।।

कवितावली, उत्तर. १०६

गोस्वामीजी ने अपना नाम, अपनी जाति, अपना जन्मस्थान, अपनी आत्मकथा – सब कुछ विलीन कर दिया। भगवान राम भी लंका से लौटकर अपने को विलीन कर देते हैं।

लंकापति रावण अपने सैनिकों से कहता है – मैंने अपनी भुजा के बल से लड़ाई छेड़ी है –

निज भुज बल मैं बयरु बढ़ावा ।। ६/७८/६

परन्तु भगवान राम को जब लंका में विजय मिली, तो कहते हैं – मित्रो! यह लड़ाई तो तुमने जीती है, तुम्हारे ही बल से मैंने रावण को मारा –

तुम्हरें बल मैं रावनु मार्‌यो ।। ६/११७/४

तो जिस **ग्रन्थ में सुलभता होगी, समन्वय होगा, समर्पण होगा – वही सब कुछ साधित कर सकता है और राम-चरित-मानस की यही विशेषता है।** यह विशेषता भगवान राम के चरित्र की है, जो गुप्त थी। गोस्वामीजी ने अपने काव्य के द्वारा ये तत्त्व प्रकट करके हम लोगों के लिये **प्रभु के चरित्र को, गंगा की धारा के समान, इतना सुलभ बना दिया** कि इसमें स्नान करके हम धन्य हो सकते हैं।

❖ (समाप्त) ❖

स्वाध्याय की आदत

स्वामी आत्मानन्द

(ब्रह्मलीन स्वामी आत्मानन्दजी ने आकाशवाणी के चिन्तन कार्यक्रम के लिये विविध विषयों पर अनेक विचारोत्तेजक लेख लिखे थे, जो उसके विभिन्न केन्द्रों द्वारा प्रसारित किये गये तथा लोकप्रिय भी हुए। प्रस्तुत लेख आकाशवाणी, रायपुर से साभार गृहीत हुआ है। – सं.)

मनुष्य अपने जीवन में कई प्रकार की आदतें डाल लिया करता है। तन और मन को प्रिय लगनेवाली आदतें तो बहुत जल्दी लग जाती हैं, पर विवेक को रुचनेवाली आदतों का निर्माण प्रयत्नपूर्वक करना पड़ता है। जल को नीचे बहने में किसी प्रकार का श्रम नहीं होता, बल्कि ढाल में उसकी गति अपने आप तेज हो जाती है, पर उसे यदि कोई ऊपर ले जाना चाहे, तो श्रम करना पड़ता है, पम्प लगाना पड़ता है। उसी प्रकार जो बातें मन को निम्नगामी बनाती हैं, उनकी आदत अपने आप लग जाती है, पर जिनसे मन ऊर्ध्वगामी बनता है, उनकी आदत प्रयत्नपूर्वक लगानी पड़ती है। ऐसी ही आदतों में से एक है – स्वाध्याय यानी अध्ययन का अभ्यास।

कई लोगों को हल्की-फुल्की कहानियाँ और उपन्यास पढ़ने का शौक होता है, पर इसे अध्ययन नहीं कहा जायगा। अध्ययन वह है, जिससे हम कुछ सीखने की कोशिश करते हैं। स्वाध्याय हममें ज्ञान पैदा करता है। ज्ञान उसे कहते हैं, जो उचित और अनुचित का भेद बताता है – यह सिखाता है कि किससे व्यक्ति का कल्याण होता है और किससे अकल्याण। अध्ययन मनुष्य को बुराइयों से बचाता है।

कहा जा सकता है कि इतिहास में ऐसे भी महान् पुरुष हो गये हैं, जो लिखना-पढ़ना नहीं जानते थे, अत: जिनके लिए अध्ययन-स्वाध्याय सम्भव नहीं था। पर यह तर्क अध्ययन की उपयोगिता को दबा नहीं सकता। बिना पढ़े भी मनुष्य महान् हो सकता है, परन्तु यह अपवाद है, सामान्य नियम नहीं। और हम तो सामान्य स्तर पर सर्वसामान्य लोगों के लिए यह चर्चा कर रहे हैं। अध्ययन वह खराद है, जिसके द्वारा आत्मसंस्कार साधित होता है।

स्वामी विवेकानन्द के सम्बन्ध में कहा जाता है कि वे इतने विद्या-व्यसनी थे, इतने अध्ययन-प्रेमी थे कि मोटा-से-मोटा ग्रन्थ अल्प समय में पढ़ लेते थे। वे पृष्ठ की पहली और अन्तिम पंक्तियों को पढ़कर पूरे पृष्ठ का कथ्य समझ लेते थे। उनकी यह प्रतिभा अध्ययन का ही फल थी। फिर कहा जाता है कि उन्होंने ऐसी दो बातें कही थीं, जिन्हें भविष्यवाणी का दर्जा दिया जा सकता है। विश्वप्रसिद्ध होने से पूर्व अमेरिका के अनिस्क्वाम नामक गाँव की घटना है, जहाँ उन्होंने एक तो यह कहा था कि जब अँगरेज भारत छोड़कर चले जाएँगे, तब चीनियों द्वारा भारत पर आक्रमण का डर बना रहेगा और दूसरा यह कि आगामी दिनों में एक ऐसी महान् हलचल, जो विश्व में नये युग का प्रारम्भ करेगी, या तो रूस से शुरू होगी अथवा चीन से। यह बात उन्होंने जुलाई १८९३ ई. में कही थी। तब श्रोताओं में से किसी को इस पर विश्वास नहीं हुआ था। जब एक ने पूछा कि क्या आप भविष्यद्रष्टा हैं? तो स्वामीजी ने कहा था – ''मैं भविष्य-द्रष्टा नहीं, इतिहास-द्रष्टा हूँ।''

स्वामी विवेकानन्द यह जो अपने को इतिहास-द्रष्टा कहते हैं, तो उनको यह दृष्टि इतिहास के अध्ययन से ही मिली थी। अध्ययन का, स्वाध्याय का ऐसा ही चमत्कार होता है।

ये तो स्वाध्याय के बड़े लाभ हुए, परन्तु सामान्य जनों के लिए बहुत-से छोटे-छोटे लाभ भी हैं। इसके द्वारा हम घर बैठे दुनिया के धुरन्धर विद्वानों के विचारों का लाभ ले सकते हैं तथा विश्व के प्राचीनतम मनीषियों के साथ सत्संग कर सकते हैं। ग्रन्थ के अनुशीलन से देश और काल की दूरियाँ खत्म हो जाती हैं। यदि हम बीमार हों, तो समय अच्छे ढंग से कट जाता है। वृद्ध – अवकाश-प्राप्त व्यक्ति को समय मानो काटता है, बिताये नहीं बीतता और उसे अपना जीवन एक फिजूल बोझ मालूम पड़ता है। परन्तु यदि वह स्वाध्याय की आदत डाल लेता है, तो उसकी ऊपर बतायी समस्याएँ अपने आप मिट जाती हैं और उसे अपने जीवन की सार्थकता मालूम होती है। उसे फिर साथियों का अभाव नहीं खलता।

स्वाध्याय हमें मनोबल प्रदान करता है और हममें अध्यवसाय के प्रति प्रेम भरता है। हतोत्साहित व्यक्ति के लिए भी स्वाध्याय रामबाण दवा है। उसे कोई ऐसा सूत्र मिल जाता है, जिससे उसमें उत्साह की नयी किरण पैदा होती है और परिस्थितियों से मुठभेड़ लेने के लिए वह उद्यत हो जाता है। अतएव जीवन में यदि हमें कोई चस्का लगाना ही है, तो हम अध्ययन-स्वाध्याय का चस्का लगावें। ❑❑❑

आत्माराम के संस्मरण (३०)

स्वामी जपानन्द

(रामकृष्ण संघ के एक वरिष्ठ संन्यासी स्वामी जपानन्द जी (१८९८-१९७२) श्रीमाँ सारदादेवी के शिष्य थे। स्वामी ब्रह्मानन्दजी से उन्हें संन्यास-दीक्षा मिली थी। उन्होंने बँगला में श्रीरामकृष्ण के कुछ शिष्यों तथा अपने अनुभवों के आधार पर कुछ रोचक संस्मरण लिपिबद्ध किये थे। अब तक हम उनके तीन ग्रन्थों – 'प्रभु परमेश्वर जब रक्षा करें', 'मानवता की झाँकी' एवं 'आत्माराम की आत्मकथा' का धारावाहिक प्रकाशन कर चुके हैं। १९६५-६६ के दौरान उन्होंने एक बार पुन: कुछ संस्मरणों को बँगला भाषा में लिखा था। उनमें से कुछ अप्रकाशित हैं। पूर्व-प्रकाशित घटनाएँ भी भिन्न विवरणों के साथ लिखी गयी हैं, अत: पुनरुक्त होने पर भी रोचक, शिक्षाप्रद तथा प्रेरणादायी हैं। – सं.)

बिलखा (१९३४-३५)

काठियावाड़ (वर्तमान सौराष्ट्र)। बिलखा – छोटा-सा काठिया राज्य है। दीवानजी के विशेष आग्रह तथा दरबार (राजा) के आमंत्रण पर संन्यासी वहाँ गया था। रियासत की ओर से एक आयुर्वेदिक औषधालय बनवाकर सेवाश्रम आरम्भ हुआ है। एक वैद्यराज हैं। उन्हीं के द्वारा संन्यासी औषधालय का काम चलाता है। इसीलिये संन्यासी वहाँ कई महीने निवास करता है, विशेषकर वर्षा के अन्त तथा शीतकाल के प्रारम्भ में। गर्मियों के दो महीने वह आबू पहाड़ पर बिताता है। बाकी समय राजकोट आदि में रहता है।

वर्षा के अन्त तथा जाड़ों के प्रारम्भ में जंगलों से दवाइयाँ एकत्र करनी पड़ती थीं – वनौषधि। ताजी आयुर्वेदिक औषधियाँ बहुत अच्छी होती थीं, काम में लगती थीं। उधर जंगल भी बहुत होते थे।

एक बार काठियावाड़ के (अंग्रेज) एजेंट जनरल वहाँ गये थे। राजा स्वयं ही उन्हें सब कुछ दिखा रहे थे। संन्यासी उस समय वहाँ के सेवाश्रम में ही था। सामने के कमरे में औषधालय था, उसी को दिखाने लाये थे। स्वामीजी का शिकागो वाला बड़ा चित्र देखते ही वे स्तम्भित रह गये। उन्होंने पूछा, "ये कौन हैं?" संन्यासी द्वारा परिचय देने पर फिर पूछा, "क्या ये अभी जीवित हैं?"

संन्यासी – "नहीं, इन्होंने १९०२ ई. की चौथी जुलाई को देहत्याग कर दिया था। वे जिस संघ की स्थापना कर गये हैं, उसका नाम है – रामकृष्ण मिशन।" – "कहाँ?"

– "कलकत्ते के पास बेलूड़ ग्राम में।"

– "बंगाल देश में।"

– "और आप बंगाली हैं?"

– "जी हाँ।"

बस तेजी से बाहर चले गये। बाद में दरबार (राजा) ने बताया, उनसे कहा था – "यहाँ पर इनको? बंगाल के लोग प्राय: ही टेररिस्ट (आतंकवादी) होते हैं।" दरबार ने उन्हें बताया कि ये संन्यासी साधु पुरुष हैं, लोक-सेवा में लगे रहते हैं। ये उस तरह के किसी चक्कर में नहीं पड़ते।

इसके बाद एजेंसी की पुलिस ने आकर चुपचाप जाँच-पड़ताल की और राजकोट के मित्रों से भी पूछताछ की थी।

जाको राखै साइयाँ

वर्षा का मौसम था। खूब वर्षा हो रही थी। संन्यासी उस समय काठियावाड़ (अब सौराष्ट्र) के एक छोटे-से राज्य बिलखा में चातुर्मास कर रहा था – वहाँ के दरबार या राजा के निमंत्रण पर। वह 'प्रभुना पीपला' अर्थात् भगवान के पीपल-वृक्ष के नीचे बने एक छोटे-से भवन में रहता था। नाम से ही स्पष्ट है कि वह एक पवित्र स्थान था। इस बिलखा में ही कभी एक वणिक सेठ सगाल शाह निवास करते थे। यह पौराणिक युग के अन्तिम काल की बात है। वे एक परम धार्मिक व्यक्ति थे। उनका व्रत था – प्रतिदिन एक साधु को भिक्षा कराने के बाद ही स्वयं अन्न ग्रहण करना। एक बार दो-तीन दिनों तक कोई साधु-संन्यासी न मिलने पर उन्होंने भगवान से प्रार्थना की। स्वयं भोजन न करने से उनका शरीर दुर्बल हो गया था।

आखिरकार उन्हें सूचना मिली कि उस पीपल के नीचे चबूतरे पर एक साधु बैठे हुए हैं। वे तत्काल वहाँ गये और साधु को प्रणाम करने के बाद और भिक्षा हेतु अपने भवन में आने का निमंत्रण दिया। उन्होंने देखा कि साधु कुष्ठरोग से ग्रस्त हैं और उन्हें चलने में कष्ट हो रहा है। सेठजी ने इस बात पर ध्यान नहीं दिया और बड़े यत्नपूर्वक उन्हें सहारा देकर धीरे-धीरे अपने घर ले आये।

वहाँ जाकर साधु ने बताया कि वे कई दिनों के भूखे हैं और अपनी इच्छानुसार भोजन मिलने पर ही वे अन्न ग्रहण करेंगे, अन्यथा नहीं। सगाल शाह सरल भक्त तथा समृद्धिशाली व्यक्ति थे। बोले – "अच्छा है, आप जो चाहेंगे, वही दूँगा।" इस प्रकार उन्हें सत्य में बाँधने के बाद साधु बोले – "तुम अपने इस आठ वर्ष के पुत्र का मांस पकाकर मुझे खिलाओ।" सर्वनाश! यह तो बिना बादल के ही सहसा बिजली गिरने के समान था!

परन्तु सगाल शाह सत्यनिष्ठ थे, बोले – "भगवन्, यह आप मेरी कैसी विषम परीक्षा ले रहे हैं!... ठीक है, वही दूँगा।" सेठजी ने अपने हाथ से पुत्र को मारा और उसके सिर को एक पत्थर के ऊखल में कूटने के बाद उसे पकाने के लिये देकर जब वे आये तो देखा – साधु नदारद है, वहाँ कोई भी नहीं था। बहुत ढूँढ़-तलाश के बाद भी वे नहीं

मिले। इस प्रकार बिना खाये उनका भी प्राणान्त हो गया।

कहते हैं कि इसके बाद आकाशवाणी हुई – "यह मेरा प्रिय भक्त है, कठिनतम परीक्षा में उत्तीर्ण हुआ है। यह चिरकाल तक मेरे पास रहेगा।"

ऐसे पवित्र स्थान में संन्यासी निवास कर रहा था। स्थान निर्जन था, थोड़ी दूर पर दरबार के कैम्प में कुछ लोग रहते थे। एक दिन दरबार के गढ़ में एक खूब प्रसिद्ध चारण कवि (मेरूभा गढ़वीर पिता) आये हुए थे। रात में उनकी कथा-कविता आदि होनेवाली थी। दरबार ने संन्यासी को निमंत्रण देकर बुलाया था। यह एक दुर्लभ अवसर था, इसीलिये संन्यासी सुनने गया। वहाँ से लौटते काफी रात हो गयी थी। एक वृद्ध ... पटेल नौकर वहाँ हर रोज संन्यासी के लौटने तक उपस्थित रहता था, परन्तु उस दिन उसकी तबीयत ठीक न होने के कारण वह दिन के पूर्वार्ध में ही चला गया था।

कमरे के बीच में एक बड़ी खिड़की थी। उसके ठीक सामने एक कैम्प खाट बिछी रहती थी, ताकि हवा मिलती रहे। संन्यासी प्रतिदिन के अभ्यास के अनुसार आकर उस पर लेट गया। कमरे में लालटेन जल रही थी। थोड़ा-सा तन्द्रा का आवेश आ रहा था, तभी (सिरहाने के बायीं ओर के कोने को दिखाकर) सुनाई दिया – "उस कोने में है।"

वहाँ काले रंग की वार्नीश की हुई एक छोटी सवा पाँच फुट की आलमारी थी, जिसमें आयुर्वेदिक औषधियाँ रखी हुई थीं। परन्तु वहाँ क्या है, यह स्पष्ट नहीं हुआ। संन्यासी ने लेटे हुए ही उस ओर देखने का प्रयास किया, परन्तु कुछ भी समझ नहीं सका। फिर सोने का प्रयास करने पर फिर वही बात सुनाई दी – "उस कोने में है।"

और कोई चारा न देख, वह उठा और लालटेन लेकर देखा, परन्तु कुछ भी दिखाई नहीं दिया। फिर ज्योंही लेटा, फिर सुनाई दिया – "उस कोने में है।"

... दिमाग में यह क्या घुस गया? किसी भी दिन तो ऐसा नहीं होता ! मन से इस भाव को दूर करने का प्रयास किया, परन्तु सफल नहीं हुआ। "उस कोने में है" – यह भाव मानो और भी स्पष्टतर होने लगा।

तब एक बड़ी लाठी लेकर वह आलमारी के बगल में जाकर उसके पीछे ठोक-ठाक कर देखने लगा। कुछ भी नहीं मिला। परन्तु ज्योंही लेटा, त्योंही – "उस कोने में है" – यह स्पष्टतर रूप से निर्देशित हो उठा।

एक बार फिर लाठी लेकर इधर-उधर ठोकते-ठाकते उसने ज्योंही आलमारी के ऊपर ठोका, त्योंही – साँप फुफकारते हुए गरज उठा !

ओह, तो वह वहाँ है। तब तो उसे बाहर निकाले बिना सोया नहीं जा सकता। इसी कारण तो जगदम्बा बार-बार कह रही थीं – "उस कोने में है।"

इसके बाद संन्यासी ने कमरे का बड़ा दरवाजा खोल दिया और स्वयं एक स्टूल पर खड़े होकर उसने लाठी को ज्योंही आलमारी के ऊपर ठोका, त्योंही वह काला विषधर साँप फुफकारते हुए फर्श पर आ गिरा; और दरवाजे से होकर बरामदे में चला गया। यदि वह आक्रमण करता, तो संन्यासी के लिये आत्मरक्षा कर पाना सम्भव नहीं हो पाता, क्योंकि वह एक ऊँचे स्टूल पर खड़ा था। जगदम्बा ने साँप को वैसी ही बुद्धि दी।

बरामदा बाँस की जाली/बाड़ से घिरा हुआ था। उसमें एक किनारे बड़े-बड़े शीशी-बोतलों से भरे हुए काठ के तीन बक्से पड़े थे। साँप ने जाकर उन बक्सों की आड़ में ही आश्रय लिया। उन बक्सों के एक ओर बाँस की जाली के किनारे एक बेंच भी रखा हुआ था। साँप को बाहर भगाने के लिये संन्यासी उन बक्सों को हिलाने और खिसकाने लगा।

इससे साँप परेशान होकर बेंच के ऊपर से होकर जाली के छेद में से बाहर निकलने लगा। उसका आधा शरीर प्रांगण की ओर बाहर निकल चुका था, तभी संन्यासी ने लाठी से उसकी पीठ पर धीरे से ठोका और उसकी रीढ़ की हड्डी टूट गयी। इसके बाद वह क्रोध से भयंकर फुफकार मारता हुआ उस जाली पर ही फन मारने लगा। जाली कच्चे बाँस से बनी थी और उसके अच्छी तरह छिले न होने के कारण उसके किनारे उभरे हुए थे। उसी पर बारम्बार फन मारने से उसका फन रक्तरंजित होने लगा। इससे वह और भी अधिक क्रुद्ध होकर जोर-जोर से फन मारने लगा। उसका आधा शरीर भीतर था और सिर का भाग बाहर। करीब आधे घण्टे से अधिक समय तक उसी प्रकार फन मारते-मारते और भी कट जाने से वह खून से लथपथ होकर निश्चेष्ट होकर गिर पड़ा। थोड़ी देर बाद संन्यासी ने बाहर जाकर देखा कि साँप का मुख क्षत-विक्षत हो गया है और वह मर चुका है। साँप सात हाथ लम्बा था।

इसके बाद संन्यासी ने यथाविधि अग्नि जलाकर मुखाग्नि देकर उसका संस्कार किया और तत्पश्चात् कमरे में आकर लेट गया। तब तक भोर का समय हो गया था। वह खूब निश्चिन्त भाव से सो गया। जगदम्बा ने ही उसकी रक्षा की।

उस वृद्ध नौकर के न रहने से बल्कि अच्छा ही हुआ था। मकान के पीछे एक छोटा-सा तालाब था, जो वर्षा के जल से भरकर बड़ा सुन्दर हो गया था। उस पीपल के वृक्ष से सगाल शाह का मकान जाने में मुश्किल से दस मिनट लगते थे। वह भग्न अवस्था में पड़ा है, जंगली झाड़ियों से भर गया है। संन्यासी ने दीवान साहब (कारभारी श्री जानी) से कहकर उसे साफ करा दिया। उसके पास ही श्री नाथूराम शर्मा का

आश्रम है। ये काठियावाड़ के एक प्रसिद्ध सन्त पुरुष थे। उनका आश्रम काफी बड़ा है।

भय और भ्रान्ति

संन्यासी ने एक बार बिलखा (काठियावाड़) में चातुर्मास किया था। एक गोसाईं ब्राह्मण थे, जो वेदान्त की चर्चा भी करते थे। एक दिन उन्होंने स्वयं अपनी 'भ्रान्ति' की एक पुरानी कथा बतायी – खेतों में अनाज पक गया था। किसानों ने उसे घर लाना प्रारम्भ कर दिया था। या फिर कोई-कोई काट कर ही इकट्ठा कर रहा था कि धीरे-धीरे घर ले जायेंगे। ब्राह्मण भिक्षा के लिये निकले थे। एक गाँव से दूसरे गाँव जाकर अनाज की भिक्षा माँगते थे। खेत में यदि ब्राह्मण जाता है, तो किसान भी देते हैं। गाँव की ओर से भी ब्राह्मणों को अनाज दिया जाता है। इससे करीब-करीब पूरे साल के लिये अनाज जुट जाता है। पुरोहित ब्राह्मण प्राय: ऐसा करते हैं।

ये ब्राह्मण थोड़े लोभी भी थे। इन्होंने एक गाँव में मिले हुए धान को बेचकर नगदी बना लिये थे। उन्हीं पैसों को गाँठ में बाँधकर वे दूसरे गाँव में भिक्षाटन हेतु जा रहे थे। पहाड़ी अंचल था – ऊँची-नीची खाइयाँ, नाले और ऊबड़-खाबड़ रास्ते थे। चलते-चलते रात हो गयी थी। चाँदनी रात थी, परन्तु गाँठ में पैसे थे और उधर डकैतों का काफी उपद्रव भी था। इसलिये वे यथासम्भव तीव्र गति से चले जा रहे थे। एक गाँव के निकट पहुँचकर उसने सहसा देखा – सामने के एक नाले के उस पार एक ऊँची जगह पर, सिर पर एक बड़ी पगड़ी लगाये, हाथ में बन्दूक लिये उन्हीं की ओर ताने हुए एक डकैत उन्हें देख रहा था और सिर हिला रहा था।

अब क्या किया जाय? बचने का एकमात्र उपाय यही था कि किसी प्रकार दौड़कर सामने के नाले के बीच में उतर जायँ और गाँव की ओर भागना शुरू कर दें। गाँव के पास ही खेतों के बीच किसान लोग आग जलाकर ताप रहे थे और अनाज की रखवाली कर रहे थे। उन्होंने जैसा सोचा था, वैसा ही किया। वे किसी प्रकार भागकर पास के एक खेत में जा पहुँचे। वे हाँफ रहे थे और भय से काँप भी रहे थे।

किसानों ने पूछा, "क्या हुआ है महाराज?" उन्होंने दूर उंगली से दिखाते हुए बताया – "वह रहा, वहाँ डकैत है!" उन लोगों ने तो कुछ भी नहीं देखा – वहाँ मदार (आक) का एक पौधा था, जो हवा चलने से थोड़ा-थोड़ा हिल रहा था। वे बोले – "वह तो आदमी नहीं, मदार का पौधा है!"

मदार के चमकीले पत्तों पर चाँद की किरणे पड़ने से ही एक ओर सम्भवत: ऐसा भ्रम हुआ होगा। उसके मन में डकैतों का भय तो था ही, इसीलिए ब्राह्मण को उसकी जगह दिखा कि पगड़ी बाँधे हुए और हाथ में बन्दूक लिये हुए डकैत बैठा है। इसके बाद प्यास लगने पर उन्होंने पूछा कि पीने का पानी कहाँ मिलेगा? क्योंकि ब्राह्मण उनका पानी तो पी नहीं सकता था – जात चली जाती! वे लोग पास के बरसाती नाले में गड्ढा बनाकर रखते हैं, जिसमें स्वच्छ जल एकत्र होता रहता है। उन लोगों ने ब्राह्मण को उसका रास्ता दिखा दिया।

ब्राह्मण ने हाथ में लोटा लिया और पानी लेने के लिये उसी गड्ढे की ओर चले। गड्ढे की ढाल की ओर वे जरा-सा ही उतरे थे कि देखा – फटे हुए वस्त्र पहने एक काली-सी लड़की सिर पर घड़ा लिये वहीं से ऊपर की ओर आ रही है।

उन्होंने पूछा – "ऐ, तू कौन है?"

लड़की ने ब्राह्मण को ठीक से देखा था, इसलिये उत्तर दिया – "भूत!" उसने ज्योंही 'भूत' कहा, त्योंही ब्राह्मण जी-जान से उल्टे पाँव दौड़ पड़े और हाँफते-हाँफते उन किसानों के पास जाकर ही रुके।

उन लोगों ने पूछा – "अरे महाराज, फिर क्या हुआ?"

महाराज भय से थरथर काँपते हुए बोले, "वह रहा, उधर से भूत आ रहा है!"

उन्होंने कहा – "किधर? वह तो हमारी बच्ची है।"

ब्राह्मण – "तो फिर उसने अपने को भूत कैसे बताया?"

किसान – "ठीक ही तो बताया। हम लोगों के गोत्र का नाम 'भूत' ही है। आपको ब्राह्मण देखकर ही उसने अपने कुल का परिचय दिया है।"

तब जाकर ब्राह्मण आश्वस्त हुए।

असल में ब्राह्मण के मन में भय बैठा हुआ था। उस समय अपने अन्तर के भय के कारण उनकी विचार करने की शक्ति चली गयी थी। इसीलिये वह बात ज्ञात होने के बावजूद उस समय स्मृति का लोप हो गया था।

इस घटना में भय तथा भ्रान्ति दोनों ने एक साथ कार्य किया था।

अहिंसा का तात्पर्य – माउंट आबू (१९३४)

बहुत दिनों बाद (१९३४) की बात है। संन्यासी आबू पहाड़ में एक गुफा में निवास करता था। एक बार एक पूर्व-परिचित जैन सज्जन ने आकर पूछा – 'योग-शास्त्र या गीता में जो अहिंसा की बात कही गयी है, उनके साथ (जैन धर्म का) साम्य कहाँ है?" उन दिनों एक ज्ञानवृद्ध तथा वयोवृद्ध विशिष्ट जैन मुनि (सम्भवत: मुनि विजय सूरीजी) अपनी टोली के साथ अजमेर से वहाँ आये हुए थे और अहमदाबाद जा रहे थे। ये लोग पैदल ही परिभ्रमण किया करते हैं। यह रीति अति उत्तम है। इसमें प्रचार-कार्य बहुत अच्छा होता है।

जैसा कि स्वाभाविक था सत्संग के समय मुनिश्री ने अहिंसा पर विशेष बल दिया। पर उनकी अहिंसा और गीता की

अहिंसा में भेद है। उन लोगों की अहिंसा में हिंस्र जन्तु भी अहिंसक के सान्निध्य में अपनी हिंसा-वृत्ति भूल जाते हैं। संन्यासी बोला, ''पतंजलि के योगशास्त्र में वैसा ही लिखा है – **अहिंसा-प्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैरत्यागः** (२/३५) और उसके व्याख्याकारों ने भी वैसा ही लिखा है। पर प्रश्न उठता है कि मनुष्य तो हिंस्र जन्तुओं के साथ निवास नहीं करता। वह मनुष्यों के साथ रहता है और इतिहास साक्षी है कि भगवान बुद्ध को उन्हीं के सम्बन्धी ने मारने की चेष्टा की थी और महावीर स्वामी पर भी अत्याचार किये गये थे। इन लोगों के सान्निध्य से उन अत्याचारियों की हिंसा-वृत्ति गयी नहीं। बुद्ध तथा महावीर के समान अहिंसक दूसरा कौन हो सकता है? अत: अहिंसा को मुख्य स्थान देना ठीक नहीं, वह गौण धर्म हो जाता है। या फिर इस योगसूत्र का अर्थ इससे भिन्न होगा, व्याकरण की दृष्टि से नहीं, बल्कि इतिहास तथा जीवन की दृष्टि से !''

इस प्रश्न के उत्तर में मुनिवर ने बताया कि वे पूर्वोक्त अर्थ ही लगाते हैं और मानते हैं – पहले के सभी आचार्य वैसा ही अर्थ लगा गये हैं। परन्तु श्रोताओं के बीच दो दल हो गये। एक दल ने विचारपूर्वक अहिंसा को गौण माना और दूसरे दल ने मुनिजी की व्याख्या को स्वीकार किया। इसके फलस्वरूप तर्क-वितर्क आरम्भ हुआ। तब मुनिजी ने बोलना बन्द कर दिया और कहा कि अगले दिन समझायेंगे।

अगले दिन उक्त जैन सज्जन (गोदड़जी डोसजी, पर्ल मर्चेंट, बम्बई) यथासमय उनके पास गये और प्रश्न के उचित समाधान के लिये आग्रह करने लगे। मुनिजी बोले, ''मनुष्य कर्माशय में आबद्ध है, इसीलिये उसके ऊपर अहिंसा-वृत्ति का प्रभाव अल्प या नहीं के बराबर पड़ता है, परन्तु पशुओं में वैसा न होने के कारण उनके ऊपर प्रभाव पड़ता है। इससे कई लोगों की यह धारणा हुई कि वह गौण धर्म हो गया। उसे जो सर्वदा मुख्य स्थान दिया जाता है, वह नहीं रहा। मुनिजी इस विषय में आगे तर्क नहीं करना चाहते थे और सबको मना भी किया। अगले दिन उन्होंने अहमदाबाद की ओर यात्रा की।

उन जैन सज्जन ने संन्यासी से समाधान करने को कहा। संन्यासी ने उन्हें बताया कि व्याकरण की दृष्टि से तो उस योगसूत्र का वही अर्थ होगा, जो उन्होंने बताया है तथा व्याख्याकारों ने माना है। परन्तु वह इसलिये ठीक नहीं प्रतीत होता कि भगवान बुद्ध या महावीर जैसे अहिंसा में प्रतिष्ठित व्यक्तियों के ऊपर भी हिंसा की चेष्टा हुई थी, ऐसा देखने में आता है। परन्तु साथ ही यह भी देखने में आता है कि बुद्ध या महावीर के मन में उन हिंसाओं की प्रतिक्रिया के रूप में प्रतिहिंसा का भाव उदित नहीं हुआ। अत्याचार किये जाने पर भी उन्होंने क्षमा ही किया था। ईसा मसीह के जीवन में भी ठीक ऐसा ही दिखाई देता है। सूली पर चढ़ाये जाने के बावजूद उन्होंने भगवान से अपने उत्पीड़क हत्यारों के लिये क्षमा ही माँगी थी – ''उन्हें क्षमा करो, क्योंकि वे नहीं जानते कि वे क्या कर रहे हैं !''

इससे यह अर्थ निकलता है कि जो लोग आत्मज्ञान या आत्म-साक्षात्कार हो जाने के कारण अहिंसा में प्रतिष्ठित हो जाते हैं, उनके मन में हिंसा-वृत्ति न रहने के कारण वे स्वयं हिंसकों के प्रति भी पूर्णत: अहिंसक ही रहते हैं। उनके मन से सचमुच ही वैरत्याग हो चुका होता है। अर्थात् अहिंसा में प्रतिष्ठित व्यक्ति ही, वैरभाव रहित होने के कारण, हिंस्र जन्तु या वैसे भावोंवाले मनुष्यों के प्रति भी स्वयं पूर्णत: अहिंसक रहते हैं। वे उन्हें क्षमा तो करते ही हैं, हृदय से उनका भला भी चाहते हैं। जैन सज्जन इस व्याख्या से सन्तुष्ट हुए।

अब उन्होंने श्रीकृष्ण के जीवन के आधार पर गीता की 'अहिंसा' की व्याख्या करने को कहा, क्योंकि उनका जीवन बुद्ध या महावीर के जीवन से मेल नहीं खाता।

संन्यासी ने कहा – ''वह मानसिक है, पूर्णत: मानसिक। मन में किसी भी प्रकार का द्वेष, घृणा या हिंसा का भाव न रखकर राजधर्म अर्थात् क्षत्रिय-धर्म का पालन करना, जिसमें दण्ड आदि देना आवश्यक होता है। धर्मत: जो दण्डदान, युद्ध आदि जो नैतिक दृष्टि से आवश्यक है, उसे यदि विद्वेष, हिंसा आदि के बिना किया जाय, तो उसे अहिंसा में प्रतिष्ठित माना जा सकता है। दुष्ट का दलन तथा शिष्ट का पालन क्षत्रिय का – राजा का धर्म है। वे ऐसा करने को बाध्य हैं। गृहस्थ भी अपने परिवार – स्त्री-पुत्रों की रक्षा करता है। यह उसका धर्म है। यदि वह पूर्वोक्त मनोभाव में प्रतिष्ठित रहकर अपने कर्तव्य-धर्म का पालन करे, तो इससे उसे कोई भी दोष स्पर्श नहीं कर सकता। अत: गीता की अहिंसा परम व्यावहारिक है, वैसे उसमें प्रतिष्ठित होना अति कठिन है।

इस प्रकार – **अहिंसा-प्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैरत्यागः** – इस सूत्र का परम्परागत अर्थ न लेकर कहा जा सकता है कि जो व्यक्ति तत् अर्थात् आत्मतत्त्व या ईश्वर के सान्निध्य में जा चुका है, वह हिंसा का शिकार होने या हिंस्र पशु निकट आने पर भी उसके मन में हिंसा का उद्रेक नहीं होगा। ऐसा अर्थ करना ही समीचीन होगा। लगता है कि सूत्रकार ने गीता से नहीं, बल्कि जैन सिद्धान्त से प्रभावित होकर वैसा लिखा है।

❖ **(क्रमशः)** ❖

बिन गुरु कृपा-ज्ञान नहि होई

स्वामी सत्यरूपानन्द

महर्षि आयोध धौम्य अपने आश्रम के सामने शान्त भाव से बैठे थे। एक किशोर ब्राह्मण-कुमार ने आकर प्रणाम किया। उन्होंने उसे आशीर्वाद दिया और उसका परिचय पूछा। किशोर ने अपना परिचय दिया तथा स्वयं को शिष्य रूप में स्वीकार करने की प्रार्थना की। आचार्य ने उसे आश्रम में रखना स्वीकार कर लिया। वह मेधावी बालक शीघ्र ही आश्रम के अन्य विद्यार्थियों से हिलमिल गया।

कुछ दिनों पश्चात् आचार्य ने इस नये विद्यार्थी को बुलाया और कहा, "बेटा उपमन्यु! आज से तुम्हें आश्रम की गौओं को वन में ले जाकर चराने का उत्तरदायित्व सौपा जाता है। तुम प्रतिदिन प्रात:काल गौओं को लेकर वन में जाना और सायंकाल उन्हें लौटा कर ले आया करना।"

उपमन्यु ने गुरुदेव के चरणों में प्रणाम कर आज्ञा शिरोधार्य कर ली। वह प्रतिदिन प्रात:काल आश्रम की गायों को लेकर वन में जाता। वहाँ उन्हें चरने के लिये छोड़कर स्वयं आसपास के ग्रामों में जाता और भिक्षा द्वारा अपना निर्वाह करता।

एक दिन सदैव की भाँति जब उसने आचार्य को प्रणाम किया, तब उन्होंने उससे पूछा, "वत्स! तुम अपनी जीविका कैसे चलाते हो?"

उपमन्यु ने निवेदन किया, "भगवन्! समीप के ग्रामों से भिक्षा प्राप्त कर मैं अपनी जीविका चलाता हूँ।"

आचार्य ने उसे आदेश दिया, "मुझे अर्पित किये बिना प्राप्त भिक्षा का उपभोग तुम्हारे लिये उचित नहीं है। तुम्हें जो भी भिक्षा मिले वह मुझे अर्पित कर दिया करो।"

उपमन्यु ने आज्ञा की स्वीकृति में आचार्य के चरण छुये। अब उसे जो भी भिक्षा मिलती उसे वह आचार्य की सेवा में अर्पित कर देता। आचार्य उसे उसमें का कुछ भी अंश न देते। उपमन्यु भी उनसे कुछ न माँगता।

कुछ दिन इसी प्रकार बीते। एक दिन पुन: आचार्य ने उससे पूछा, "बेटा! तुम भिक्षा का सम्पूर्ण भाग मुझे दे देते हो, फिर तुम्हारी जीविका कैसे चलती है?"

उपमन्यु ने सविनय निवेदन किया, "गुरुदेव! मैं अपने लिये दूसरी बार भिक्षा प्राप्त कर लेता हूँ।"

आचार्य ने कहा, "वत्स! यह तुम्हारे लिये उचित नहीं है। इस प्रकार तुम अन्य भिक्षार्थियों का भाग प्राप्त कर उन्हें भिक्षा से वंचित कर देते हो। तुम्हें दूसरी बार भिक्षा के लिये नहीं जाना चाहिये।'

उपमन्यु ने गुरु की आज्ञा शिरोधार्य की। अब वह ग्रामों में दूसरी बार भिक्षा लेने के लिये न जाता।

कुछ दिन और बीत गये। एक दिन आचार्य ने उपमन्यु से पुन; वही प्रश्न पूछा, "वत्स! तुम भिक्षा का सभी अंश मुझे दे देते हो। ग्रामों में दूसरी बार भिक्षाटन भी नहीं करते। फिर तुम्हारी जीविका कैसे चलती है?" उपमन्यु ने सनम्र निवेदन किया, "भगवन्! मैं आश्रम की गायों का दूध पीकर अपनी जीविका चलाता हूँ।'

आचार्य ने कहा, "वत्स! ये गायें गुरुकुल की हैं। उनके दूध पर तुम्हारा कोई अधिकार नहीं है। अत: तुम्हें उनका दूध नहीं पीना चाहिये।"

उपमन्यु ने गुरुदेव की आज्ञा शिरोधार्य की और पुन: अपने कार्य में लग गया।

कुछ दिन और बीतने पर आचार्य ने पुन: उपमन्यु को बुलाया और उससे पूछा, "वत्स! तुम भिक्षा का सब भाग मुझे दे देते हो, दूसरी बार भिक्षा भी नहीं करते, गायों का दूध भी नहीं पीते, फिर तुम्हारी जीविका का कैसे चलती है?"

उपमन्यु ने कहा, 'आचार्य प्रवर! जब मैं वन में गायें चराता रहता हूँ, उस समय कुछ बछड़े अपनी माताओं के थनों से दूध पीते हैं। तब उनके मुहों से फेन निकलती है। मैं उसी फेन को चाटकर अपनी क्षुधा शान्त करता हूँ।"

आचार्य ने कहा, वत्स्! तुम्हें बछड़ों के मुँह से गिरनेवाला फेन नहीं खाना चाहिये।"

उपमन्यु ने गुरु की आज्ञा स्वीकार कर ली। वह वन में गायों को चराने ले गया। किन्तु गुरु की आज्ञा के कारण न तो उसने दूसरी बार भिक्षा माँगी, न गायों का दूध पिया, न फेन ही चाटा एक दिन बीता दूसरा दिन बीता।

अब उपमन्यु भूख से व्याकुल होने लगा। अन्तत: उसकी व्याकुलता असह्य हो गयी। भूख की पीड़ा से बचने के लिये उसने आक के पत्ते चबा लिये। उन पत्तों के विष से उसकी नेत्र ज्योति जाती रही। वह अन्धा हो गया। अन्धा उपमन्यु व्याकुल होकर वन में भटकने लगा। उस वन में एक सूखा कुआँ था। उपमन्यु उस कुँये में गिर पड़ा। गिरकर कुछ क्षणों के लिये वह अचेत हो गया। जब उसकी चेतना लौटी तब उसने अपने आप को एक सूखे कुँये में पाया। वह बड़ा दुखी हुआ। दुख तथा विपत्ति के इन क्षणों में उसने मन ही मन गुरुदेव से कृपा करने की प्रार्थना की। सन्ध्या हुई। सभी

शिष्यों ने सन्ध्या-वन्दन के पश्चात् पूज्य आचार्य को प्रणाम किया। किन्तु उपमन्यु नहीं आया। आचार्य ने शिष्यों से पूछा, "उपमन्यु कहाँ है?"

एक शिष्य ने निवेदन किया, "भगवन्! उपमन्यु आज वन से ही लौटकर नहीं आया है।"

आचार्य चिन्तित हुये। उन्होंने शिष्यों से कहा, "चलो, हम सब वन में उपमन्यु की खोज करने चलें।

आचार्य के आदेशानुसार सभी शिष्य उनके साथ मशाल आदि लेकर उपमन्यु की खोज में वन को गये। वहाँ आचार्य उसका नाम ले-लेकर पुकारने लगे।

कुँये में पड़े उपमन्यु ने अपने पूज्य आचार्य का कण्ठ स्वर सुना। प्रत्युत्तर में कुँये में से उसने कहा, "गुरुदेव! मैं यहाँ इस सूखे कुँये में पड़ा हूँ।"

उपमन्यु की आवाज सुनकर सभी उस सूखे कुँये के पास पहुँचे। गुरुदेव के पूछने पर उपमन्यु ने अपने उस कुँये में गिर पड़ने का सारा वृतान्त कह सुनाया। आचार्य की आँखों से आँसुओं की धारा बहने लगी। उन्होंने अपने आज्ञाकारी शिष्य को सान्त्वना दी और उससे वैदिक ऋचाओं द्वारा देवभिषज अश्विनी कुमारों की स्तुति करने को कहा। गुरु की आज्ञानुसार उसने वन्दना की। उसकी स्तुति से प्रसन्न हो देवभिषज वहाँ उपस्थित हुये और उन्होंने उपमन्यु से कहा, "उपमन्यु! हम तुम्हारी स्तुति से प्रसन्न हैं। तुम यह पूआ खा लो। इसके खाने पर तुम्हारी पर नेत्रज्योति लौट आयेगी तथा तुम पूर्ण स्वस्थ हो जाओगे।'

उपमन्यु ने कहा, 'देवभिषजो! आपकी कृपा के लिये मैं कृतज्ञ हूँ। किन्तु मेरा यह नियम है कि मुझे मिली प्रत्येक वस्तु मैं अपने गुरुदेव के चरणों में अर्पित कर देता हूँ तथा उनकी आज्ञानुसार ही कार्य करता हूँ। अत: यह पूआ भी मैं उनके श्रीचरणों में ही अर्पित करता हूँ। मैं उनकी आज्ञा के बिना इसे नहीं खा सकता।"

उसकी गुरुभक्ति देखकर देवभिषज अवाक रह गये। उन्होंने उसे गले से लगा लिया। महर्षि धौम्य भी अपने शिष्य की भक्ति देखकर गद्गद् हो उठे। उन्होंने देव-वैद्यों से उपमन्यु को नेत्रज्योति देने की प्रार्थना की। उनकी कृपा से उपमन्यु को तुरन्त नेत्रज्योति प्राप्त हो गयी। गुरुदेव ने उसे वेद-वेदांगों में पारंगत होकर ब्रह्मज्ञानी होने का वरदान दिया। गुरु-कृपा से उपमन्यु ब्रह्मज्ञानी हुये।

संसार का प्रत्येक साधक उपमन्यु है। आध्यात्मिक जीवन की पूर्णता के लिये गुरु की आज्ञा का पालन अनिवार्य है। वस्तुत: परमात्मा ही गुरु के रूप में प्रकट होते हैं। गुरु ठीक-ठीक जानते हैं कि शिष्य का परम कल्याण किसमें है। उनके विधान में, सम्भव है, प्रत्यक्षत: शिष्य को कष्ट की अनुभूति हो, किन्तु परोक्ष में उस कष्ट के पीछे भी शिष्य का परम मंगल ही निहित रहता है। कष्टों एवं विपत्तियों से शिष्य का चित्त शुद्ध होता है और उसका पुरुषार्थ प्रकट होता है, उसका आत्मविश्वास बढ़ता है, उसकी ईश्वर-निर्भरता अचल होती है और उसके अहंकार का नाश होता है। इस प्रकार जब शिष्य का अहंकार निर्मूल हो जाता है, तब उस पर गुरु की भरपूर कृपा होती है। वास्तव में गुरु की कृपा से ही ज्ञान प्राप्त होता है। आध्यात्मिक जीवन का प्रथम सोपान गुरुभक्ति है। गुरुभक्ति वह जहाज है जो कि हमें संसार-सागर के पार उतारने में सहायक होता है।

कबिरा ते नर अन्ध हैं गुरु को कहते और।
हरि रूठै गुरु ठौर है गुरु रूठै नहि ठौर।।

पुरखों की थाती

परोऽपि हितवान्-बन्धुः बन्धुरप्यहितः परः।
अहितो देहजो व्याधिः हितम्-आरण्यम्-औषधम्।।

– यदि कोई पराया होकर भी हमारा हित करता है, तो वह मित्र है; और यदि कोई मित्र होकर भी अहित करता है, तो वह पराया है। जैसे अपने शरीर में पैदा होनेवाला रोग अहितकर होने से पराया है, जबकि वन में पैदा होनेवाली औषधि उपकारी होने से मित्र है।

परदुःखं समाकर्ण्य स्वभाव-सरलो जनः।
उपकारासमर्थत्वात्-प्राप्नोति हृदये व्यथाम्।।

– स्वभाव के सरल व्यक्ति दूसरे का दु:ख सुनकर, यदि उसे दूर करने में असमर्थ भी हों, तो अपने हृदय में पीड़ा का अनुभव करते हैं।

प्राज्ञस्तु जल्पतां पुंसां श्रुत्वा वाचः शुभाशुभाः।
गुणवद्-वाक्यमादत्ते हंसः क्षीरमिवाम्भसः।।

– विवाद करनेवाले लोगों की भली-बुरी सारी बातें सुनकर भी, विवेकशील व्यक्ति उसमें से गुणयुक्त बातों को ग्रहण कर लेता है, वैसे ही जैसे कि राजहंस पानी में से केवल दूध को ग्रहण कर लेता है।

पुराणमित्येव न साधु सर्वं
न चापि काव्यं नवमित्यवद्यम्।
सन्तः परीक्ष्यान्यतरद् भजन्ते
मूढः पर-प्रत्यय-नेयबुद्धिः।।

– पुरानी होने से ही कोई वस्तु उत्तम नहीं हो जाती, नया होने से ही कोई काव्य बुरा नहीं हो जाता। सज्जन लोग दोनों की परीक्षा करके दोनों में जो उत्तम है, उसे ग्रहण करते हैं, जबकि मूढ़ दूसरों की बुद्धि से चलता है।

प्रभुदयाल मिश्र

स्वामी प्रभानन्द

(श्रीरामकृष्ण के जीवन-काल में अनेक नर-नारी उनके सम्पर्क में आये और क्रमश: उनके अनुरागी, भक्त या शिष्य बने। विद्वान् लेखक रामकृष्ण मठ तथा मिशन के महासचिव हैं। आपने अनेक प्रामाणिक ग्रन्थों के आधार पर कुछ विशिष्ट व्यक्तियों के साथ उनकी प्रारम्भिक मुलाकातों का वर्णन किया है। इस शृंखला के अनेक लेखों के अनुवाद १९७८ से १९८८ के दौरान विवेक-ज्योति में प्रकाशित हुए थे। वर्तमान लेख First Meetings with Sri Ramakrishna नामक अंग्रेजी ग्रन्थ से स्वामी विदेहात्मानन्द द्वारा अनुवादित हुआ है। – सं.)

श्रीरामकृष्ण को गले में गिलटी फूल गयी थी। डॉक्टरों ने परीक्षा करके निश्चय किया कि उन्हें Clergyman's Sore-Throat (धर्मोपदेशकों को होनेवाला गले का घाव) नामक रोग हो गया है। वरिष्ठ भक्तों के अनुरोध पर १८८५ ई. में वे बेहतर तथा विशेषज्ञ डॉक्टरों द्वारा सुव्यवस्थित रूप से इलाज कराने हेतु कलकत्ते में निवास करने लगे थे। भक्तों ने उत्तरी कलकत्ते के श्यामपुकुर में एक दुमंजले भवन की पहली मंजिल को किराये पर लिया था। उसी के दो बड़े कमरों में से एक में श्रीरामकृष्ण रहते थे। कलकत्ते के कुछ विशेषज्ञ डॉक्टरों ने उनकी परीक्षा करके रोग को कैंसर बताया। तब तक इस रोग की कोई भी दवा ज्ञात न थी, तो भी वहाँ के सर्वप्रमुख होम्योपैथी चिकित्सक डॉक्टर महेन्द्रलाल सरकार उनकी यथासाध्य चिकित्सा करने को राजी हो गये। न चाहने के बावजूद रोगी को दिव्य भावावेश में प्राय: ही समाधि लग जाती, परन्तु वे आध्यात्मिक सहायता माँगनेवाले लोगों से बातें भी करते थे। श्रीरामकृष्ण कलकत्ते के सर्वाधिक सम्मानित सन्त और वहाँ के धर्माचार्यों में सर्वप्रमुख थे। जब से वे कलकत्ते आये, उनका दर्शन करने के लिये पूर्व-परिचितों तथा नवागन्तुकों का ताँता लगा रहता था।

पतझड़ के मौसम की एक सुबह – ३१ अक्तूबर १८८५ के दिन एक अपरिचित उनसे मिलने आ पहुँचा। पैंतीस वर्ष के इस नवागन्तुक का रंग साँवला, आँखें बड़ी-बड़ी, चेहरे पर दाढ़ी और शरीर पर यूरोपीय वेशभूषा थी। सिर पर हैट तथा हाथ में टहलने की छड़ी लिये हुए वह श्रीरामकृष्ण के कमरे में प्रविष्ट हुआ। ठाकुर ने अपनी रीति के अनुसार विनयपूर्वक पहले ही आगन्तुक को नमस्कार किया। उनके अभिवादन का उत्तर देने के बाद आगन्तुक फर्श के ऊपर बिछी हुई दरी पर बैठ गया। उसने प्रभुदयाल मिश्र के रूप में अपना परिचय दिया। उसका जन्म क्वेकर सम्प्रदाय के ईसाई परिवार में हुआ था।

प्रारम्भिक परिचय के उपरान्त मिश्र ने एक धार्मिक विचार रखते हुए तुलसीदास का एक पद उद्धृत किया – ''वही राम घट-घट में लेटा।'' ठाकुर ने अपनी आध्यात्मिक शक्ति से नवागन्तुक के भीतर-बाहर का सब कुछ जान लिया। इसके बाद उन्होंने मिश्र के दृष्टिकोण की प्रशंसा करते हुए छोटे नरेन से इस प्रकार कहा कि मिश्र भी सुन सकें – ''राम एक ही हैं, परन्तु उनके नाम हजारों हैं। ईसाई जिन्हें गॉड (God) कहते हैं, हिन्दू उन्हीं को राम, कृष्ण और ईश्वर कहते हैं। तालाब में बहुत से घाट हैं। हिन्दू एक घाट में पानी पीते हैं, कहते हैं 'जल'; ईसाई दूसरे घाट में पानी पीते हैं, कहते हैं 'वाटर' (Water); मुसलमान तीसरे घाट में पानी पीते हैं, कहते हैं 'पानी'। इसी प्रकार जो ईसाइयों का 'गाड' (God) है, वही मुसलमानों का 'अल्ला' है।'' श्रीरामकृष्ण ने हिन्दू, इस्लाम तथा ईसाई मार्गों को अपनाकर ईश्वर की प्रत्यक्ष अनुभूति की थी; और अपनी इस व्यक्तिगत अनुभूति के बल पर ईश्वर के नामों तथा विभिन्न सम्प्रदायों द्वारा अपनाये गये मार्गों में भेद के बावजूद उनकी एकता तथा पवित्रता के विषय में उनकी अपनी अभूतपूर्व धारणा थी। उनके मतानुसार प्रत्येक व्यक्ति का अपना मार्ग हो सकता है, परन्तु सभी मार्ग एक ही लक्ष्य तक पहुँचाते हैं; और वह लक्ष्य है – ईश्वर की अनुभूति।

क्षण भर मौन छाया रहा। कमरे में उपस्थित लोगों में से किसी ने मिस्टर विलियम्स[१] का उल्लेख किया, जो श्रीरामकृष्ण से मिल चुके थे और उन्होंने विश्व के सभी प्रमुख धर्मों की शिक्षाओं में निहित समन्वय-विषयक श्रीरामकृष्ण की अनुभूति की प्रशंसा की थी। मिश्र बोले, ''मिस्टर विलियम्स सम्भवत: ईश्वर के मार्ग में नये थे और शायद उन्होंने बौद्धिक दृष्टिकोण से इस धारणा को स्वीकार किया हो।'' श्रीरामकृष्ण ने कहा, ''पर वह ईश्वर के नाम पर अश्रुपात् करता था।''[२] श्रीरामकृष्ण व्यक्ति की ईश्वर के लिये व्याकुलता की मात्रा के आधार पर ही उसकी आध्यात्मिक प्रगति का आकलन किया करते थे। धर्म-समन्वय की जिस अद्भुत धारणा को श्रीरामकृष्ण समझाना चाहते थे, हमें नहीं मालूम कि वह मिश्र को पटी या नहीं। अब वे अपनी भावनाएँ तथा व्यक्तिगत अनुभूतियाँ बताने लगे। मिश्र बोले, ''ईसा मेरी के पुत्र नहीं, वे तो साक्षात् ईश्वर हैं।'' श्रीरामकृष्ण को देखने के बाद मिश्र के मन में जो भाव उठे थे, उन्हीं से प्रेरित होकर अब वे उनके विषय में अपना व्यक्तिगत

१. मिस्टर विलियम्स एक प्रोटेस्टेंट ईसाई थे, जो १८८१ ई. में सम्भवत: गुड-फ्राइडे के दिन श्रीरामकृष्ण से मिले थे। उन्होंने श्रीरामकृष्ण को ईसा मसीह के प्रत्यक्ष अवतार के रूप में पहचाना था।

२. श्री 'म' की डायरी के अप्रकाशित अंश, पृ. ७५३

दृष्टिकोण बताने लगे। वे क्षण भर के लिये रुके और उसके बाद ठाकुर की ओर इंगित करते हुए भक्तों को बताने लगे, ''ये (श्रीरामकृष्ण) अभी तो ऐसे दिखते हैं, पर ये साक्षात् ईश्वर हैं। आप लोगों ने इन्हें पहचाना नहीं। मैं पहले ही ध्यान में इनके दर्शन कर चुका हूँ, अब साक्षात् देख रहा हूँ। मैंने देखा था – एक बगीचा है, ये ऊँचे आसन पर बैठे हुए हैं; भूमि पर एक व्यक्ति और बैठे हुए हैं, जो उतने पहुँचे हुए नहीं थे।''[३]

श्रीरामकृष्ण के सन्देश तथा मिश्र के तत्कालीन विश्वास के बीच जो भेद था, उसे स्पष्ट रूप से समझने के लिये हम एक ईसाई ग्रन्थ से यह उद्धरण प्रस्तुत कर सकते हैं, ''एक ईसाई अपने विश्वास के लिये एक सुनिश्चित चुनाव करता है और ईसा को एकमात्र उद्धारक मानता है। ईसाई धर्म में अनुभूति का अर्थ है ईसा में ईश्वर को देखना। श्रीरामकृष्ण ईसा को उस हिन्दू अनुभूति तक ले गये, जिसमें वह एक अवतार के माध्यम से ब्रह्म की प्रत्यक्ष अनुभूति करता है, समस्त प्राणियों को ब्रह्म की अभिव्यक्तियों के रूप में देखता है और जिस अनुभूति में दिव्यता स्पष्ट तथा उदारतापूर्वक प्रकट होती है।''[४] उन्होंने ईसा को अपने स्वयं के – भारतीय परम्परा में पगे एक भक्त के दृष्टिकोण से देखा। यद्यपि मिश्र की अनुभूति निश्चित रूप से चर्च तथा धर्माचार्यों की परम्परागत धारणा से भिन्न थी, तथापि वह श्रीरामकृष्ण के सर्वधर्म-समन्वय के महान् धारणा से भी मेल नहीं खाती थी।

मिश्र अदम्य उत्साह से परिपूर्ण थे और उन्होंने श्रीरामकृष्ण के प्रति अपनी भक्ति को कई प्रकार से व्यक्त किया। उन्होंने अपने सच्चे विश्वास को प्रकट करते हुए कहा, ''इस देश में ईश्वर के चार द्वारपाल हैं। बम्बई प्रान्त में तुकाराम, काश्मीर में रॉबर्ट माइकेल, यहाँ ये और पूर्व बंगाल में एक और हैं।''

श्रीरामकृष्ण ने पूछा, ''क्या तुम्हें कुछ दर्शन होता है?''

मिश्र – ''जी, जब मैं घर पर था, तब ज्योति-दर्शन होता था। इसके बाद मैंने ईसा को देखा। उस रूप की बात अब क्या कहूँ, उस सौन्दर्य के सामने स्त्री का सौन्दर्य खाक है!''

एक गृही भक्त के मुख से ऐसे शब्द सुनकर श्रोतागण और भी कुछ सुनने के लिये इन्तजार करते रहे। मिश्र ने अपने धर्म-जीवन के बारे में और भी कुछ बातें बताईं। वे अपने परिवार का त्याग करके एक निर्जन गुफा में योग-साधना कर रहे थे। एक दिन उन्हें एक दिव्य दर्शन हुआ। उन्होंने एक नदी के किनारे एक सुन्दर उद्यान देखा। वहाँ एक योगी गहन समाधि में निमग्न थे। योगी के ज्योतिर्मय रूप को देखकर उनकी आँखें चौंधिया गयीं। यह घटना एक बार ही हुई। बहुत प्रयास करने पर भी उन्हें दुबारा यह अनुभूति नहीं हो सकी। तभी से वे उस योगी से मिलने की आशा में इधर-उधर भ्रमण कर रहे थे। आज उन्होंने अपने दिव्य दर्शन के उस योगी की दिव्य मूर्ति के रूप में श्रीरामकृष्ण को पहचान लिया था।[५] जैसा कि स्पष्ट है मिश्र के हार्दिक प्रयासों तथा दृढ़ निश्चय की सहायता से उनमें ईश्वर के प्रति शरणागति का भाव विकसित हुआ था और वे कुछ दिव्य अनुभूतियाँ पाकर भी धन्य हुए थे। दृढ़ विश्वास के साथ उन्होंने अपनी अनुभूतियों का वर्णन किया और थोड़ी देर बाद अपने श्रोताओं को विश्वास दिलाने हेतु उन्होंने अपना कोट-पतलून खोलकर भीतर पहना हुआ गेरुए का कौपीन दिखलाया।

श्रीरामकृष्ण शौच करने के लिये बाहर चले गये। लौटने के बाद उन्होंने कुछ मिनट पूर्व हुए अपने अलौकिक दर्शन का वर्णन करते हुए कहा, ''इसे (मिश्र को) देखा, वीर की तरह खड़ा है।'' यह कहते हुए श्रीरामकृष्ण समाधिमग्न हो रहे हैं; वे पश्चिम की ओर मुँह करके खड़े थे। समाधि में वे चित्रलिखे से दिख रहे थे – उनके होठों पर हल्की-सी मुस्कान फैली हुई थी। क्रमश: उनकी आंशिक चेतना लौटी। वे मिश्र पर दृष्टि लगाकर हँसने लगे। श्रीरामकृष्ण धीमे स्वर में बोले, ''मजे में हो न!'' लगा मानो मिश्र उनके पुराने परिचित रहे हों।[६] उनकी भावावस्था जारी रही। क्षण भर बाद उन्होंने मिश्र का हाथ पकड़ लिया और उनसे हाथ मिलाते हुए बोले, ''तुम जिसके लिये चेष्टा कर रहे हो, वह तुम्हें मिल जायेगा।'' श्रीरामकृष्ण अब भी खड़े थे। उनका मन अर्धचेतना तथा भाव-समाधि के बीच आवागमन कर रहा था और वे ईश्वरीय चेतना के जिस आनन्द की अनुभूति कर रहे थे, वह उनके चेहरे पर झलक रहा था। उनके होठों की मोहक मुस्कान ने मिश्र का हृदय चुरा लिया।

विस्मय से अभिभूत होकर मिश्र ने हाथ जोड़कर कहा, ''उसी दिन से (जब उन्होंने पूर्वोक्त दिव्य दर्शन में श्रीरामकृष्ण को देखा था) मैंने अपना मन, प्राण, शरीर – सब कुछ आपको समर्पित कर दिया है।'' श्रीरामकृष्ण भावावस्था में पहले के समान ही अब भी हँस रहे हैं।

लगभग इसी समय मिश्र ने समाधिमग्न श्रीरामकृष्ण में अपने इष्टदेव प्रभु ईसा मसीह को देखा। इससे अभिभूत होकर वे उनकी स्तुति करने लगे और उनके समक्ष अपने हृदय की प्रार्थना व्यक्त की। इसके बाद वे भक्तों को सम्बोधित करते हुए बोले, ''तुम लोग इन्हें नहीं पहचानते। ये और ईसा मसीह एक हैं। आज आप लोगों ने जैसा इनमें देखा, वैसे ही ईसा मसीह भी ऐसी समाधि अवस्था में जाया करते थे। मैं पहले ही ईसा मसीह तथा परमहंसदेव – दोनों को एक दर्शन में देख चुका

३. श्रीरामकृष्ण-वचनामृत, भाग २, सं. १९९९, पृ. ११०९-१०

४. नलिनी देवदास, श्रीरामकृष्ण, प्रकाशक – द क्रिश्चियन इंस्टीच्यूट फार द स्टडी ऑफ रेलिजन एण्ड सोसायटी, बंगलोर, पृ. २६-७.

५. अक्षय कुमार सेन, श्रीश्री रामकृष्ण पुंथी, ५म सं., पृ. ६०४-०५

६. श्री 'म' की डायरी, पृ. ७५३

हूँ। ये ही वर्तमान ईसा मसीह हैं।"[७] एक ईसाई भक्त के मुख से अनुभूतियों की ये बातें सुनकर भक्तगण मंत्रमुग्ध हो गये।

इसी बीच श्रीरामकृष्ण अपनी सामान्य अवस्था में आ गये और अपना आसन ग्रहण किया। कमरे में उपस्थित भक्तगण अब समझ चुके थे कि मिश्र क्वेकर सम्प्रदाय के एक ईसाई हैं। उनमें से एक ने पूछा कि ईसाई होकर भी उन्होंने गेरुआ कौपीन क्यों पहन रखा है! मिश्र ने बताया, "ब्राह्मण कुल में जन्म लिया है, भाग्य से ईसा मसीह के ऊपर विश्वास स्थापित करके उन्हें अपने इष्टदेव के रूप में ग्रहण कर लिया है। क्या इसीलिए मुझे अपना पैतृक रीति-व्यवहार भी छोड़ देना होगा? मैं योगशास्त्र पर विश्वास रखकर और ईसा को इष्टदेव के रूप में ग्रहण करके नित्य योग का अभ्यास करता हूँ। जातिभेद में विश्वास न रखते हुए भी इस बात पर विश्वास करता हूँ कि जिस-तिस के हाथ से भोजन करने से योगाभ्यास में हानि होती है। अत: नित्य अपने हाथ से पकाकर हविष्यान्न खाता हूँ। इस कारण ईसाई होने पर भी ज्योति-दर्शन आदि के रूप में मुझे क्रमश: योगाभ्यास के फल प्राप्त हो रहे हैं। भारत के ईश्वरप्रेमी योगी अनादिकाल से गेरुआ वस्त्र पहनते आये हैं। अत: इससे अधिक प्रिय वस्त्र मेरे लिए और क्या हो सकता है?"[८]

अन्य प्रश्नों के उत्तर में उन्होंने अपने पहले के पारिवारिक जीवन के विषय में भी बताया। उन्होंने बताया कि किस प्रकार उनके एक भाई के विवाह के दिन अन्य दो भाइयों की मृत्यु हो गयी थी। विवाह के समय शामियाना के नीचे गिर जाने से उनके दो भाइयों की मृत्यु हो गयी थी। इस घटना ने उनके हृदय में बचपन से ही जल रही वैराग्य की चिनगारी को और भी भड़का दिया। उन्होंने उसी दिन संसार का त्याग कर दिया।

श्रीरामकृष्ण ने भक्तों से मिश्र की खातिर करने को कहा। श्रीरामकृष्ण के चारों ओर एकत्र होनेवाले युवा भक्तों के अगुवा नरेन्द्रनाथ (बाद में स्वामी विवेकानन्द) ने, मिश्र ने जो कुछ कहा था, उससे प्रभावित होकर, उनसे एक के बाद एक प्रश्न करके, उनके हृदय की सारी बातें निकाल लीं और मिश्र को योगी जानकर उन्हें विशेष रूप से प्रणाम किया। कमरे में उपस्थित अन्य युवा भक्तों ने भी वैसा ही किया।

श्रीरामकृष्ण ने मिश्र को अनार तथा अन्य फल दिये। वे अत्यन्त प्रसन्न हुए और उन्होंने श्रीरामकृष्ण के प्रसाद को भक्तों में बाँट दिया।[९] स्वामी सारदानन्द ने लिखा है कि भक्तों ने उनके साथ मिलकर एक ही प्लेट से श्रीरामकृष्ण की प्रसादी मिठायी पायी।

७. *The Complete Works of Swami Abhedananda*, Ramakrishna Vedanta Math, Calcutta, Vol. X, p. 660.

८. स्वामी सारदानन्द, श्रीरामकृष्ण-लीलाप्रसंग, खण्ड ३, पृ. २७४-५

९. श्रीश्री रामकृष्ण पुंथी, ५म सं., पृ. ६०६

मिश्र उत्साह से परिपूर्ण होकर श्यामपुकुर-भवन से लौटे, परन्तु अगले दिन श्रीरामकृष्ण से विदा लेने वे अपराह्न में फिर आ पहुँचे। ठाकुर उन्हें दुबारा देखकर प्रसन्न हुए।

मिश्र बोले, "आप जब फिर बुलायेंगे, तब आऊँगा।"

श्रीरामकृष्ण – "हाँ, वह सब ईश्वर की इच्छा पर है।"

आखिरकार मिश्र विदा हुए, परन्तु दक्षिणेश्वर के परमहंस के साथ उनके दो दिनों के मिलन की मधुर स्मृतियाँ सदा के समान अब भी तरो-ताजा हैं।[१०]

श्रीरामकृष्ण ने भविष्यवाणी की थी कि जो कोई भी सच्चे हृदय से सर्वव्यापी परमात्मा की दिशा में तीर्थयात्रा कर रहा होगा, उसे पथ-प्रदर्शन हेतु उनके पास आना ही होगा। मिश्र की श्रीरामकृष्ण के साथ यह महत्त्वपूर्ण भेंट उनकी इसी वाणी को सत्यापित करती है। विभिन्न मत एवं सम्प्रदाय – जगत्, ईश्वर, मनुष्य, मुक्ति आदि के विषय में आपात् विरोधी विचार रखते हैं, पर श्रीरामकृष्ण के पास विभिन्न धर्ममतों की साधना से प्राप्त दिव्य अनुभूतियों का एक समृद्ध भण्डार था, जिसके द्वारा वे सहज ही इन सम्प्रदायों के बीच सहमति की नींव रखने में समर्थ हो जाते थे। श्रीरामकृष्ण जगद्गुरु थे और वे अत्यन्त वैज्ञानिक पद्धति के द्वारा पूरे आत्मविश्वास के साथ हर सम्प्रदाय के साधकों को, उनके अपने संस्कारों तथा दृष्टिकोणों के अनुसार परम लक्ष्य की ओर अग्रसर कराते थे।

१०. स्वामी प्रभानन्द, श्रीरामकृष्ण की अन्त्यलीला, प्रथम सं., पृ. ८२

विवेकानन्द की महिमा

नारायणदास बरसैंया

स्वामी विवेकानन्द ने हमको जगा दिया,
हीनत्व-बोध, देश का जड़ से मिटा दिया।।

वे वीर हैं, नरसिंह हैं, स्वामी के वेश में,
अपना विराट् रूप जगत् को दिखा दिया।।

हम खोजते थे ईश को, मन्दिर में, तीर्थ में,
दीनो-दुखी में ब्रह्म का दर्शन करा दिया।।

असहाय, वृद्ध, रुग्ण ही साकार ब्रह्म हैं,
सेवा भी ध्यान तुल्य है, हमको सिखा दिया।।

हे शिष्य यशस्वी महान् रामकृष्ण के,
कर शंखनाद, देश की जड़ता भगा दिया।।

करने लगी दुनिया पुनः सम्मान हिन्द का,
जादू महान् आप ने ऐसा चला दिया।।

मानव-वाटिका के सुरभित पुष्प

डॉ. शरद् चन्द्र पेंढारकर

१७४. सर्वोत्तम राजा की खोज

विष्णुगुप्त चाणक्य जब तक्षशिला विश्वविद्यालय का आचार्य पद छोड़कर पाटलीपुत्र आये और राजा नन्द को भोग-विलास में लिप्त पाया, तो वे योग्य शासक की खोज में निकल पड़े। एक दिन उन्हें सड़क के किनारे कुछ लड़के राजा-प्रजा का खेल खेलते दिखाई दिये।

वे कुतूहलवश चुपचाप उनका खेल देखने लगे। एक पेड़ के नीचे बने चबूतरे पर एक बालक राजा बना बैठा था। उसके आदेशों को सुनकर हामी भरने के लिये उसके दायें-बाँयें एक-एक लड़के खड़े थे। कई लड़के सामने एक पंक्ति में खड़े होकर राजा बने बालक को अपनी-अपनी समस्या को बता रहे थे। एक ने कहा, ''महाराज, मैं बड़ा गरीब हूँ। घर में बूढ़े माँ-बाप और विवाह योग्य एक बहन है। यदि आप मुझे एक गाय दे दें, तो मैं उसका दूध दूहकर गुजारा कर सकूँगा।'' राजा बने बालक ने आदेश दिया, ''सामने चर रही एक गाय इसे दे दी जाये।'' सुनकर वह बालक बोला, ''नहीं महाराज, मुझे यह गाय न दें। अन्यथा इसका मालिक आकर मुझसे दंगा-फसाद करने लगेगा।''

सुनते ही राजा बने बालक ने अपनी म्यान से तलवार निकालने का अभिनय किया और कहा, ''लगता है, राजा की तलवार का प्रजा को कोई भय नहीं है। मैं सुशासन देना चाहता हूँ। जो भी मेरी अवज्ञा करेगा, उसे मेरी तलवार मौत के घाट उतार देगी। मैं राज्य में अत्याचार और मनमानी कदापि सहन नहीं करूँगा।''

बालक के अभिनय से चाणक्य बेहद प्रभावित हो गये। उन्होंने मन-ही-मन सोचा कि यही बालक मगध की बागडोर सँभालने के लिये सर्वाधिक योग्य है। मुरा नाम की उसकी माँ राजा की दासी थी। वे उसे लेकर तत्काल मुरा के पास गये और बोले, ''तुम्हारे बेटे में राजा बनने के लक्षण दिखाई दे रहे हैं। यदि तुम इसे मुझे सौंप दो, तो मैं इसे राजसिंहासन पर बिठाऊँगा। यह निश्चय ही सुशासन देने में सफल होगा।'' अनुमति पाकर चाणक्य ने उस बालक और उसके साथियों को शस्त्रास्त्र चलाने तथा अन्य विद्याओं में पारंगत किया और उसे राजगद्दी पर बिठाकर अपना वचन पूरा किया। यही बालक चन्द्रगुप्त मौर्य के नाम से मगध का राजा बना और उसका नाम भारतीय इतिहास में स्वर्णाक्षरों में अंकित हुआ।

१७५. साधक, न निराश करो मन को

उद्दालक ऋषि ने निर्विकल्प समाधि के अनेक प्रयोग किये, किन्तु वे सब-के-सब निष्फल साबित हुए। विफलता मिलने पर उन्हें जीवन से विरक्ति हो गई। वे सोचने लगे कि यदि मैं अपने जीवन के परम लक्ष्य तक नहीं पहुँच सकता, तो फिर इसकी सार्थकता ही क्या है? इसलिये इस जीवन का त्याग कर देना ही श्रेयस्कर होगा। वे निराहार रहकर मृत्यु का वरण करने का निश्चय करके निर्जन वन में गये और वहाँ एक वटवृक्ष के नीचे बैठ गये।

वृक्ष के कोटर में रहनेवाले एक तोते से ऋषि की अवस्था देखी नहीं गई। उसने करुणार्द्र स्वर में ऋषि से कहा, ''ऋषिवर, इस पामर पक्षी की धृष्टता व वाचालता को क्षमा करें। आप जिस कुपथ पर जा रहे हैं, उससे आपको विरत करने का मेरा यह दुस्साहस शायद आपको पसन्द न आये, किन्तु आपकी चित्त-वृत्तियाँ जिस एकाग्रता के साथ मृत्यु के संकल्प में तल्लीन हैं, आप यदि उन्हें जीवन की ओर मोड़ दें, तो आपकी आकांक्षा पूरी हो सकेगी। आप भलीभाँति जानते हैं कि यह शरीर मरणशील है और मृत्यु अवश्यम्भावी है, इसलिये उसे मृत्यु की ओर प्रवृत्त करने में आपका कौन-सा पुरुषार्थ हुआ? आप मृत्यु को अमृतत्व देने का प्रयास करें और मन को सहजता से जीवन के केन्द्र में स्थिर करें, तो आपको परमानन्द के स्वर्गीय सुख की अनुभूति होगी।'' तोते का गुरुमंत्र ऋषि को उचित प्रतीत हुआ। वे दुगने उत्साह के साथ साधना में जुट गये और उन्हें शीघ्र ही निर्विकल्प के सुख की अनुभूति हुई।

'साधना' का अर्थ 'आत्म-अनुशासन' है। मृत्यु की कामना उचित नहीं। मनुष्य का जीवन वृक्ष के समान है। पतझड़ - ऋतु आने पर अपनी पत्तियों को झड़ते देख वृक्ष स्वयं को नष्ट नहीं मानता, बल्कि वह वसंतागमन की प्रतीक्षा करता है और नयी पत्तियाँ आने पर वह नवीन स्फूर्ति का अनुभव करता है। मनुष्य को भी जीवन में तात्कालिक असफलता से हताश नहीं होना चाहिये और न आत्मघात के बारे में सोचना चाहिये। उसे आशावान बनकर नये जीवन की प्रतीक्षा करनी चाहिये। श्रुति का वचन है – मृत्योर्मा अमृतं गमय – मुझे मृत्यु की ओर नहीं, जीवन की ओर ले चलो। मनुष्य को इस वचन को सदैव स्मरण में रखना चाहिये।

गीता की महिमा और सन्देश

स्वामी विदेहात्मानन्द

सनातन वैदिक हिन्दू धर्म पूर्णरूप से वेदों पर आधारित है और वेद-वेदान्त का सार है – श्रीमद्-भगवद्-गीता। गीता के माहात्म्य के विषय में भगवान श्रीरामकृष्ण कहते हैं – "अधिक शास्त्र पढ़ने की जरूरत नहीं है। ज्यादा पढ़ने से तर्क और विचार आ जाते हैं। शास्त्र का सार जान लेना चाहिये और उसके बाद ईश्वर की प्राप्ति के लिये डुबकी लगानी चाहिये। तोतापुरी मुझे बताते थे – गीता का दस बार उच्चारण करने से जो फल होता है, वही गीता का सार है। दस बार 'गीता'-'गीता' दुहराने से 'त्यागी'-'त्यागी' निकल आता है।... गीता यह शिक्षा दे रही है कि – हे जीव, तू सब छोड़कर ईश्वर-प्राप्ति की चेष्टा कर। कोई साधु हो या गृहस्थ, मन से सारी आसक्ति दूर करनी चाहिये। यही गीता का सार है।... संसार में जिसकी काम-कांचन से आसक्ति छूट गयी है, जो ईश्वर पर सोलहों आने भक्ति कर सका है, उसी ने गीता के मर्म को समझा है। गीता को पूरा पढ़ने की जरूरत नहीं। 'त्यागी, त्यागी' कह सकने ही से हुआ – त्यागी बन सकने से ही हुआ। ... गीता सब शास्त्रों का सार है। संन्यासी के पास और चाहे कुछ न रहे, परन्तु एक छोटी-सी गीता जरूर रहेगी।"[१]
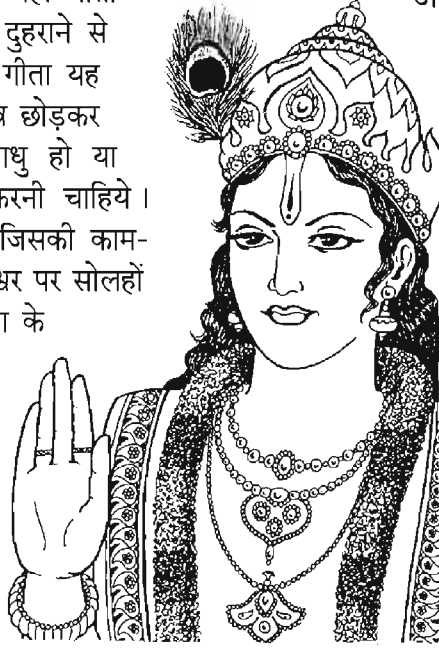
गीता-विषयक उनकी कुछ अन्य उक्तियाँ भी उल्लेखनीय हैं – "अभ्यास-योग से काम-कांचन में आसक्ति का त्याग होता है – यह बात गीता में है। अभ्यास से मन में असाधारण शक्ति आ जाती है। तब इन्द्रिय-संयम करने और काम-क्रोध को वश में लाने में कष्ट नहीं उठाना पड़ता। जैसे कछुआ पैर समेट लेने पर फिर बाहर नहीं निकालना चाहता – कुल्हाड़ी से टुकड़े टुकड़े कर डालने पर भी बाहर नहीं निकालता।

"कर्मयोग का अर्थ है – सब कर्मों का फल ईश्वर को समर्पण कर देना। गीता में उन्होंने कहा है – 'हे अर्जुन, तुम मेरी शरण लो, तुम्हें मैं सब तरह के पापों से मुक्त कर दूँगा।' उनकी शरण में जाओ; वे सुबुद्धि देंगे, वे सब भार ले लेंगे। तब सब तरह के विकार दूर हट जाएंगे। इस बुद्धि से क्या कोई उन्हें समझ सकता है?... उनकी शरण में जाओ – उनकी जो इच्छा हो, वे करें। वे इच्छामय हैं।"[२]

"गीता के मत से ज्ञानी खुद नहीं खाता, वह कुण्डलिनी को आहुति देता है। गीता में है, जिसे बहुत से आदमी जानते और मानते हैं, चाहे विद्या के लिए हो या गाने-बजाने के लिए, लेक्चर देने के लिए या अन्य गुणों के लिए, निश्चयपूर्वक समझो, उसमें ईश्वर की विशेष शक्ति है।"[३]

गीता में लिखा है – मृत्यु के समय जो कुछ सोचोगे, अगले जन्म में वही होगे। राजा भरत ने 'हरिण-हरिण' कहकर देह छोड़ी थी, दूसरे जन्म में वे हरिण ही हुए थे। ईश्वर का चिन्तन करके देह का त्याग करने पर ईश्वर की प्राप्ति होती है। फिर इस संसार में नहीं आना पड़ता। ... इसीलिए जप, ध्यान, पूजा आदि का दिन-रात अभ्यास किया जाता है, अभ्यास के गुण से मृत्यु के समय ईश्वर की याद आती है। इस तरह से अगर मृत्यु होती है तो ईश्वर का स्वरूप मिलता है।"[३]

श्रीमाँ सारदा देवी अपने किसी-किसी शिष्य को स्वाध्याय के लिए भी उत्साहित करतीं और प्रतिदिन इसके कम-से-कम दो श्लोक पढ़ने को कहतीं।

स्वामी विवेकानन्द इसे हिन्दुओं का सर्वश्रेष्ठ ग्रन्थ मानते थे। जब वे परिव्राजक के रूप में सम्पूर्ण भारत का भ्रमण कर रहे थे, उस समय दो-एक अन्य पुस्तकों के साथ गीता भी रहती थी। वे कहते हैं – "गीता एक सुन्दर पुष्पमाला या सर्वोत्तम चुने हुए फूलों के एक गुलदस्ते के समान है।... गीता में भगवान श्रीकृष्ण जो कुछ कह गये हैं, उसके समान महान् उपदेश जगत् में और कहीं नहीं है।... गीता में भगवान ने ज्ञान का अत्यन्त स्पष्ट उपदेश दिया है। यह महान् काव्य समस्त भारतीय साहित्य का मुकुटमणि माना जाता है। गीता उपनिषदों की एक व्याख्या है। इसके समान वेदों का भाष्य न कभी बना है, न बनेगा।... वह हमें दिखाता है कि आध्यात्मिक संग्राम इसी जीवन में लड़ा जाना चाहिए।... वस्तुत: सम्पूर्ण वेदान्त दर्शन इसमें समाविष्ट है।... धर्म के विभिन्न मार्गों का

१. श्रीरामकृष्ण-वचनामृत, सं. १९९९, पृ. १/५५७ ;१/४४-४५; २/११०३; २/९२३

२. वही, १/१४५; २/१०१८; १/३५८

३. वही, १/६५२; २/७२६

४. वही, २/७३३; २/९७९

समन्वय और निष्काम कर्म – ये गीता की दो प्रमुख विशेषताएँ हैं। ... गीता छोटे के भीतर महान् को देखने की शिक्षा देती है। धन्य है यह ग्रन्थ ! ... गीता में श्रीकृष्ण ने धर्म-समन्वय किया है। ... भिन्न-भिन्न सम्प्रदायों के विरोध के कोलाहल की दूर से आती हुई आवाज हम गीता में सुन पाते हैं और देखते हैं कि समन्वय के वे अद्भुत प्रचारक भगवान श्रीकृष्ण बीच में पड़कर विरोध को दूर कर रहे हैं।''

इस प्रकार हम देखते हैं कि गीता एक ऐसा ग्रन्थ है, जो हिन्दू धर्म के मूलभूत तत्त्वों का प्रतिपादन करती है। हिन्दू जाति के सैकड़ों-हजारों धर्म-ग्रन्थों में से यदि उनके सार के रूप में कोई एक ग्रन्थ चुनना हो, तो सर्वमान्य रूप से वह भगवद्-गीता ही होगी।

'गीता' शब्द का तात्पर्य

'भगवद्गीता' का अर्थ है भगवान का गीत, जिसे संक्षेप में केवल 'गीता' कहते हैं। १८ अध्यायों में निबद्ध इसके ७०० श्लोक महाभारत के भीष्मपर्व से लिये गये हैं। सन्त ज्ञानेश्वर के शब्दों में – 'गीता महाभारत रूपी कमल का पराग है।' सामान्य जनता को वेदों का धर्म-तत्त्व समझाने की दृष्टि से इसकी उपयोगिता को ध्यान में रखकर ही इसे कामधेनु या कल्पवृक्ष भी कहा गया है।

वेदों का सार है उपनिषद् और उपनिषदों का सार है गीता, अत: हिन्दू धर्म के मूल तत्त्वों को समझने के लिये गीता से सहज तथा सर्वांगपूर्ण अन्य कोई ग्रन्थ नहीं है। गीता हिन्दू धर्म की सर्वाधिक लोकप्रिय तथा प्रामाणिक ग्रन्थ है। यद्यपि किसी ने इसके कर्मयोग पर अधिक बल दिया है, तो किसी ने इसके ज्ञानयोग पर, पर यह निर्विवाद है कि अपने मत को प्रस्तुत करने के लिये अनेक महान् विचारकों को गीता का सहारा लेना पड़ा है। यथा शंकराचार्य, रामानुजाचार्य, सन्त ज्ञानेश्वर, लोकमान्य तिलक, महात्मा गांधी, सातवलेकर, विनोबा आदि असंख्य सन्तों, आचार्यों तथा विचारकों ने गीता पर अपनी व्याख्याएँ लिखी हैं। अब तक संसार की अधिकांश भाषाओं में विभिन्न प्रकार की टीका-टिप्पणियों तथा व्याख्याओं के साथ गीता के असंख्य संस्करण तथा अनुवाद प्रकाशित हो चुके हैं। कोलकाता के बाँसतला स्ट्रीट में स्थित गीता लाइब्रेरी में संसार की २७ भाषाओं में गीता के एक हजार से भी अधिक संस्करणों का संग्रह विद्यमान है।[५]

भगवद्-गीता का अर्थ है – भगवान का गीत। संस्कृत में गीत का नपुंसक-लिंगी शब्द 'गीतम्' होता है, परन्तु चूँकि यह ग्रन्थ एक उपनिषद् है, अत: स्त्रीलिंग 'उपनिषद्' शब्द के विशेषण के रूप में यह भी स्त्रीलिंग होकर 'गीता' कहलाती है। कुरुक्षेत्र के मैदान में अर्जुन को जो मोह या भ्रान्ति हुई थी, उसे दूर करने के लिये भगवान श्रीकृष्ण ने उनके समक्ष **प्रहसन्निव** – मानो हँसते हुए यह गीत गाया था। इसे सुनने के बाद अर्जुन ने कहा – **नष्टो मोहः स्मृतिः लब्धा** – ज्ञान प्राप्त करके मेरा मोह दूर हो गया। तभी से, पिछले चार-पाँच हजार वर्षों से भगवान का यह गीत न केवल करोड़ों विश्ववासियों का मन मोहता रहा है, अपितु उनका जागतिक मोह दूर करके श्रेय का मार्ग भी दिखाता रहा है।

गीता का प्रचार

हजारों वर्षों से गीता महाभारत के अंश के रूप में निबद्ध रही है। कहते हैं कि अब से लगभग डेढ़ हजार वर्ष पूर्व भगवत्पाद शंकराचार्य ने सर्वप्रथम इस पर अपना भाष्य लिखकर एक पृथक् ग्रन्थ के रूप में प्रस्तुत किया। तब से उत्तरोत्तर इसकी महिमा और इसकी लोकप्रियता में निरन्तर वृद्धि होती रही है। असंख्य लोगों ने विभिन्न भाषाओं में इसकी भाष्य-टीकाएँ तथा भावार्थ एवं अनुवाद प्रस्तुत किये।

यूरोपवासियों के लिये मूल संस्कृत से गीता का पहला अंग्रेजी अनुवाद सर चार्ल्स विल्किन्स ने किया। ईस्ट इंडिया कंपनी के निदेशक-मंडल की अनुमति से भारत के प्रथम गवर्नर-जनरल लॉर्ड वारेन हेस्टिंग्ज ने ३० मई १७८५ को इसे इंग्लैंड से प्रकाशित कराया। लार्ड हेस्टिंग्ज ने स्वयं ही इसकी प्रस्तावना में लिखा – "जिज्ञासा जगानेवाले जो कुछ सर्वश्रेष्ठ ग्रन्थ आज तक सुशिक्षित जगत् को उपलब्ध हुए हैं, उनमें से गीता एक अद्भुत ग्रन्थ है। ... जब भारत में अंग्रेजों का प्रभुत्व समाप्त हुए काफी काल बीत चुका होगा और इसकी सम्पदा तथा सत्ता के उद्गम स्मृति-मात्र का विषय होकर रह जायेंगे, तब भी भारतीय दर्शनों के लेखक जीवित रहेंगे।'' गीता का यही अनुवाद यूरोप से क्रमश: अमेरिका में पहुँचा। अमेरिका के सुप्रसिद्ध दार्शनिक इमर्सन १८३३ ई. में एक बार वे थॉमस कार्लायल से मिलने गए। कार्लायल ने उन्हें गीता भेंट की और वहाँ जिस उदार दार्शनिक आन्दोलन की शुरुआत हुई, उसकी नींव इसी छोटी-सी पुस्तक से पड़ी। "अमेरिका में जितने भी उदार भावों के आन्दोलन हैं, वे सभी किसी-न-किसी प्रकार से उस कांकॉर्ड-आन्दोलन के ऋणी हैं।''[६]

गीता का सन्देश

वीरता और निर्भयता का सन्देश

इस जगत् में जीवन-धारण प्रकृति के विरुद्ध एक सतत युद्ध है। इसमें व्यवहार करते समय मनुष्य बहुधा द्वन्द्व में पड़ जाता है, किंकर्तव्य-विमूढ़ हो जाता है – क्या करना उचित

५. श्रीमद्-भगवद्-गीता (बँगला), स्वामी जगदीश्वरानन्द, उद्बोधन कार्यालय, सं. १९७७, पृ. ४७

६. विवेकानन्द साहित्य, प्रथम सं., खण्ड ७, पृ. १६३

है और क्या अनुचित ! कभी-कभी संघर्ष के भय से व्यक्ति हथियार डाल देना चाहता है, मैदान छोड़ देना चाहता है और बहुधा अपनी दुर्बलता एवं कायरता को क्षमा तथा त्याग समझ बैठते हैं। तमोगुण बहुधा सत्त्वगुण के छद्मावरण में प्रकट होता है, कर्तव्य से पलायन बहुधा त्याग का बाना पहनकर सामने आता है। अर्जुन अपने न्यायसंगत अधिकारों के लिये धर्मयुद्ध करने रणक्षेत्र में आये हैं, परन्तु अपने स्वजनों के प्रति मोह के फलस्वरूप वे किं-कर्तव्य-विमूढ़ हो जाते हैं, त्याग का मार्ग अपनाने की बात करते हैं।

परन्तु भगवान उनके कर्तव्य की याद दिलाते हुए कहते हैं – "हे अर्जुन, इस घोर संकट की घड़ी में आर्यों के लिये अनुपयुक्त, स्वर्ग में बाधक तथा कीर्ति का नाशक, यह मोह तुम्हारे मन में कैसे उत्पन्न हुई? यह कायरता तुम्हें शोभा नहीं देती। अपने हृदय की इस तुच्छ दुर्बलता को त्यागकर तुम युद्ध का संकल्प लो और उठकर खड़े हो जाओ।"

इसकी व्याख्या करते हुए स्वामी विवेकानन्द कहते हैं – "किसी व्यक्ति को पापी कहकर उसकी निन्दा नहीं करनी चाहिए, बल्कि उसमें विद्यमान सर्वशक्तिमत्ता की ओर तुम्हें उसका ध्यान आकृष्ट करना चाहिए – **नैतत्त्वयुपपद्यते** – 'यह तुम्हें शोभा नहीं देता !' तुम अविनाशी आत्मा हो, सब दोषों से परे हो। अपनी सत्य प्रकृति को भूलकर और अपने को पापी समझकर, तुमने अपने को वैसा बना लिया है, जैसा कि कोई शारीरिक पापों तथा मानसिक शोक से पीड़ित हो – यह तुम्हें शोभा नहीं देता। दुनिया में न तो पाप है, न दु:ख है, न रोग है और न शोक है; यदि दुनिया में कोई ऐसी वस्तु हैं, जिसे पाप कहा जा सकता है, तो वह है – भय। जिस कर्म से तुममें सुप्त शक्ति जाग जाय, वह पुण्य है; और जो तुम्हारे शरीर और मन को निर्बल बनाये, वह सचमुच पाप है। इस निर्बलता और इस हृदय-दुर्बलता को दूर भगाओ ! तुम बहादुर हो, वीर हो; यह तुम्हारे अयोग्य है।"

क्लैब्यं मा स्म गमः पार्थ नैतत्त्वय्युपपद्यते ।
क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यं त्यक्त्वोत्तिष्ठ परंतप ।। २/२-३

यदि कोई यह श्लोक पढ़ता है, तो उसे सम्पूर्ण गीतापाठ का लाभ होता है क्योंकि इसी एक श्लोक में पूरी गीता का सन्देश निहित है।

यज्ञ का नया तात्पर्य

यह पूरा विश्व-ब्रह्माण्ड चक्रवत् चल रहा है। जो वस्तु जहाँ से उदित होती है, अन्ततः उसी में उसका पर्यवसान भी होता है। जैसे समुद्र का जल वाष्प के द्वारा बादल में परिणत होकर पृथ्वी पर वर्षा करता है और नदियों आदि से होता हुआ पुन: समुद्र में ही जाकर विलीन हो जाता है। इस प्रकार चक्र पूरा होता है। इसी प्रकार सम्पूर्ण जगत् एक दूसरे पर निर्भर है, अन्योनाश्रित है। हर प्राणी अपने जीवन-धारण तथा विकास हेतु दूसरों से सहायता लेता है और बदले में उसे भी दूसरे प्राणियों के लिये बहुत कुछ करना पड़ता है। जन्म से ही उसे प्रत्यक्ष रूप से परिवार, समाज, राष्ट्र, तथा विश्व और अप्रत्यक्ष रूप से देवताओं तथा ईश्वर से काफी कुछ प्राप्त होता रहता है। इसी को सश्रद्ध लौटाने का नाम 'यज्ञ' है।

अब से लगभग पाँच हजार वर्ष पूर्व जब भगवान श्रीकृष्ण का आविर्भाव हुआ, उन दिनों वैदिक कर्मकाण्ड का बोलबाला था। पुरोहित लोग राजाओं की स्वर्ग आदि कामनाओं की पूर्ति और जगत् के कल्याण हेतु बड़े-बड़े यज्ञों का आयोजन कराते, जिसमें याग-यज्ञ, पशु-बलि आदि कर्मों का ही प्राधान्य रहता। दूसरी ओर अनेक महान् साधक इन कर्मों को निरर्थक मानकर समाज से बाहर जाकर तपोवनों का निर्माण करते और त्याग-संन्यास मार्ग का अवलम्बन करके ज्ञानमार्ग की चर्चा तथा श्रवण-मनन-निदिध्यासन का अभ्यास करते। ये दोनों विचार-धाराएँ वेदों से ही निकली थीं और कर्मकाण्ड तथा ज्ञानकाण्ड कहलाती थीं। प्राचीन साहित्य के अनुशीलन से ज्ञात होता है कि इन दोनों के अनुयायियों के बीच तुमुल वैचारिक संघर्ष चल रहा था। तभी भगवान कृष्ण का आविर्भाव हुआ और उन्होंने अपनी गीता के माध्यम से यज्ञ की एक नयी व्याख्या की और निष्काम कर्म का महान् सिद्धान्त देकर इन दोनों विरोधी पक्षों के बीच चले आ रहे विवाद को शान्त कर दिया। उन्होंने कर्मत्याग नहीं अपितु कर्मफलों के त्याग को महत्वपूर्ण बताया और कर्म के साथ अनासक्ति को जोड़कर, आन्तरिक त्याग के रूप में उसे ज्ञानमार्ग के बाह्य त्याग के समतुल्य बताया। आज के युग में स्वामी विवेकानन्द द्वारा निर्दिष्ट निष्काम भाव से किया जानेवाला 'शिवज्ञान से जीवसेवा' द्वारा समाज की सेवा द्वारा भी इस युग में 'कर्मयज्ञ' सम्पन्न होता है।

प्रबल कर्मठता के बीच परम शान्ति

कर्म से मनुष्य भाग नहीं सकता। कम-से-कम देहयात्रा के लिये तो घोर आलसी या परम स्वार्थी भी कर्म करता ही है। श्वास-प्रश्वास भी तो एक तरह का कर्म ही है। अत: कर्म के बिना कोई प्राणी रह नहीं सकता। परन्तु कर्म के द्वारा ही कर्म का बन्धन काटा जा सकता है। श्रीरामकृष्ण कहते हैं कि काँटे से ही काँटा निकलता है, अविद्या माया के काँटे को निकालने के लिये विद्या माया का काँटा ही काम आता है। अत: सकाम तथा स्वार्थयुक्त कर्म के स्थान पर निष्काम तथा ईश्वरार्पित कर्म करते हुए व्यक्ति क्रमश: मुक्ति के मार्ग पर अग्रसर हो सकता है।

गीता के अनुसार प्रत्येक कार्य पवित्र है। प्रारब्धवश छोटा-बड़ा, ऊँचा-नीचा जो भी कर्तव्य सामने उपस्थित हो, उसे जी-जान से पूरा करने की चेष्टा करनी चाहिये। महत्त्व कर्म का नहीं, उसके पीछे निहित भाव का ही है, अत: उसे

नि:स्वार्थ तथा ईश्वर की पूजा के भाव से सम्पन्न करना चाहिये। उसके फल की कामना नहीं करनी चाहिये। इसी से परम सुख-शान्ति की प्राप्ति हो सकेगी। तभी क्रमश: इस श्लोक के भाव का बोध होने लगेगा –

कर्मण्यकर्म य: पश्येदकर्मणि च कर्म य: ।
स बुद्धिमान् मनुष्येषु स युक्त: कृत्स्नकर्मकृत् ।। ४/१८

– 'जो कर्मशीलता में शान्ति अनुभव करता है तथा प्रबल निस्तब्धता एवं शान्ति में कर्मशीलता का दर्शन करता है। वही पूर्ण है, विद्वान् है, वही सिद्ध है।' स्वामीजी कहते हैं – 'जो व्यक्ति प्रबल कर्मशीलता के बीच रहता हुआ भी निष्कर्म भाव की मधुर शान्ति का उपभोग करता है, और महा निस्तब्धता में भी जो अत्यन्त कर्मशील रह सकता है, उसी ने जीवन के रहस्य को ठीक ठीक जाना है।'

गीता का अनासक्ति योग

उपनिषदों में निरूपित 'त्याग' के भाव को ही गीता में 'अनासक्ति' के रूप में प्रस्तुत किया गया है। इस अनासक्ति को ही श्रीरामकृष्ण आन्तरिक त्याग कहते हैं। अनासक्ति ही गीता का केन्द्रीय भाव है।

स्वामीजी कहते हैं – 'सभी प्रकार का कर्म करो, किन्तु उसमें आसक्त मत हो। तुम सर्वदा निर्विकार, शुद्ध-बुद्ध और मुक्त आत्मा हो – निर्लिप्त और साक्षी हो। हमारे दु:ख का मूल कर्म नहीं, आसक्ति है। सन्तान, पत्नी, पति, कुटुम्बी, यश आदि का त्याग करने की कोई आवश्यकता नहीं है; केवल उनमें आसक्त मत बनो। **आसक्ति के भाजन तो केवल प्रभु ही हो सकते हैं** – और कुछ नहीं। और सब के लिए परिश्रम करो, उन्हें प्यार करो, उनका हित सम्पादन करो, अवसर आने पर उनके लिए अपने जीवन का बलिदान भी कर दो; परन्तु उनमें आनासक्त मत होओ।'

संसार में किया हुआ प्रत्येक कार्य भले-बुरे का सम्मिश्रण होता है। प्रत्येक भले कार्य में कुछ बुराई मिली रहती है और प्रत्येक बुरे कार्य में कुछ अच्छाई छिपी रहती है। यदि ये कार्य अपने लिये किये जाते हैं, तो इनके फलस्वरूप सुख-दुख भोगने पड़ते हैं, पर यदि हम प्रत्येक कर्म को उसके फल की आकांक्षा त्यागकर ईश्वरार्पित बुद्धि से करें, अनासक्त भाव से करें, साक्षी भाव से करें, तो फिर हमें उनका फल नहीं भोगना होगा। तब हम कर्मों तथा उसके दोषों से वैसे ही निर्लिप्त रह सकेंगे और कमल-पत्र जल में रहकर भी गीला नहीं होता, वैसे संसार के सुख-दु:ख हमें प्रभावित नहीं कर सकेंगे।

इस आसक्ति की जड़ है अहंकार। व्यक्ति स्वयं को बड़ा महत्त्वपूर्ण समझने लगता है और सोचता है मेरे बिना दुनिया का कार्य नहीं चलेगा। यही उसके बन्धन तथा दु:खों का कारण बनता है। हमें यह सोचकर स्वयं को धन्य समझना चाहिये, ईश्वर को धन्यवाद देना चाहिये कि उन्होंने अपने कार्य के लिये हमें अपना यंत्र बनाया। तब हम अपने कर्म के द्वारा ईश्वर की पूजा करते हुए परम सिद्धि को प्राप्त कर सकेंगे।

सर्वभूतों में ब्रह्मदर्शन

वेदान्त का कहना है कि यह सम्पूर्ण विश्व-ब्रह्माण्ड परमात्मा से उद्भूत हुआ है, उन्हीं में स्थित है और अन्त में उन्हीं में विलीन हो जाता है। पूरा जगत् ही ईश्वरमय है। कण-कण में उन्हीं की अनुभूति करना और तदनुरूप सबके प्रति सम भाव से आचरण करना ही जीवन का लक्ष्य है।

स्वामी विवेकानन्द गीता में निरूपित साम्य भाव को विशेष पसन्द करते थे। वे कहते हैं – 'गीता में यदि कोई ऐसी बात है, जिसे मैं पसन्द करता हूँ, तो वह ये दो श्लोक हैं। कृष्ण के उपदेश के सार-स्वरूप इन श्लोकों से बड़ा भारी बल प्राप्त होता है –

समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम् ।
विनश्यत्स्वविनश्यन्तं य: पश्यति स पश्यति ।।
समं पश्यन् हि सर्वत्र समवस्थितमीश्वरम् ।
न हिनस्त्यात्मनात्मानं ततो याति परां गतिम् ।।
१३/२७-८

– जो सर्वत्र, सभी विनाशवान प्राणियों में अविनाशी परमेश्वर को समान रूप से निवास करता हुआ देखता है, वही ठीक-ठीक देखता है। सर्वत्र समान रूप से विराजमान परमात्मा को देखता हुआ, वह व्यक्ति आत्मा से आत्मा की हिंसा नहीं करता और इस कारण वह परम गति को प्राप्त होता है।'

शरणागति और कृपा

गीता में भगवान पहले उद्यम तथा पुरुषार्थ का उपदेश देने के बाद, ज्ञान-भक्ति तथा योग का मार्ग बताते हैं और अन्त में अट्ठारहवें अध्याय में कहते हैं कि सभी कर्तव्यों को छोड़कर निरन्तर अनन्य भाव से मेरा चिन्तन करो, मेरी ही शरण लो। मैं तुम्हें समस्त बन्धनों से मुक्त कर दूँगा और मेरी कृपा से तुम शान्ति और परम गति को प्राप्त कर लोगे।

❑❑❑

कर्मयोग की साधना (९)

स्वामी भजनानन्द

परिशिष्ट – कर्मयोग के साधकों के लिये कुछ व्यावहारिक सुझाव

(१) कर्मयोग के अतिरिक्त अन्य सभी योगों की साधना में एकान्त की आवश्यकता होती है। एकमात्र कर्मयोग में ही ऐसी क्षमता विद्यमान है कि वह आध्यात्मिक आदर्श को सीधे जीवन-संघर्षों के व्यस्ततम क्षेत्र में पहुँचा देता है।

(२) कर्मयोग का लक्ष्य है अपनी मुक्ति और जगत् का कल्याण। इन दो लक्ष्यों को ध्यान में रखकर ही सारे कर्म सम्पन्न करना चाहिये।

(३) सभी कर्म इस प्रकार करना चाहिये कि वे बन्धन का कारण न बनें। इसके लिये हमें जानना होगा कि बन्धन क्या है! दो प्रकार की आसक्तियों से बन्धन की उत्पत्ति होती है – इन्द्रियों की विषयों के प्रति आसक्ति और अपने कर्मफलों से आसक्ति। इन दो प्रकार की आसक्तियों को त्याग देने पर कर्म बन्धन का कारण नहीं रह जाता।

(४) साथ ही, हम जो कुछ भी करें, वह लोगों की भलाई के लिये हो और लोगों के प्रति नि:स्वार्थ प्रेम से प्रेरित होकर किया जाय।

(५) सम्पूर्ण जीवन तथा जगत् परमात्मा में स्थित है – इस मूलभूत अखण्डता पर बल देकर, वैराग्य तथा प्रेम के बीच के विरोधाभास को मिटाया जा सकता है।

(६) सारे कर्मों को या तो सभी जीवों में निवास करने वाले परमात्मा की सेवा के रूप में अथवा वैश्विक यज्ञ में आहुति के रूप में सम्पन्न करना चाहिये। तात्पर्य यह है कि सारे कार्य या तो भगवद्-भक्ति के साथ किये जायँ, अथवा आत्मा के बोध के साथ। दोनों ही स्थितियों में महत्त्वपूर्ण बात यह है कि कर्म – व्यक्तिगत जीवन को समष्टिगत जीवन से जोड़ने का एक साधन बने।

(७) अन्य सभी योगों के समान ही कर्मयोग में भी प्रशिक्षण, साधना तथा उच्चतर आकांक्षा की आवश्यकता है।

(८) सभी कर्मों को योगी के समान करो, भोगी के समान नहीं; स्वामी के समान करो, दास के समान नहीं।

(९) सभी लोगों को अव्यक्त ब्रह्म के रूप में देखो; परन्तु अव्यक्त को सत्य मानकर व्यवहार करने की भूल मत करो। बुराई के अस्तित्व तथा शक्ति को कम करके मत आँको। यद्यपि ईश्वर सभी में निवास करते हैं, पर सबमें उनकी समान अभिव्यक्ति नहीं होती। अत: हमें बुरी मानसिकता के लोगों से मिलते-जुलते समय तथा कठिन परिस्थितियों में सावधान रहना होगा। (श्रीरामकृष्ण द्वारा दिये गये सलाह तथा बाघ-नारायण एवं महावत-नारायण के दृष्टान्त को स्मरण रखो। (वचनामृत, खण्ड १, सं. १९९९, पृ. १४६, ५९८)।

(१०) कर्मयोगी को बुराई, पाप तथा अशुभ शक्तियों के साथ दृढ़तापूर्वक निपटने के लिये तैयार रहना चाहिये, उसे उसी के अनुसार अपने मन को तैयार करना होगा।

(११) महामाया इतनी शक्तिशाली है कि वे किसी भी व्यक्ति को कभी भी भ्रमित कर सकती है। अत: व्यक्ति को सर्वदा सावधान तथा सजग रहना होगा। जब हम कर्म में व्यस्त रहें, उस समय भी एक तरह का आत्म-विश्लेषण तथा विवेक का अभ्यास जारी रहना चाहिये।

(१२) कर्म आरम्भ करने के पूर्व विवेक तथा शक्ति के लिये प्रार्थना करो, ताकि बिना आसक्त हुए अपना कार्य ठीक-ठीक सम्पन्न कर सको।

(१३) इसके अतिरिक्त हमें प्रतिदिन सुबह और शाम कम-से-कम आधा घण्टा नि:शब्द ध्यान में बिताना चाहिये। यदि मन इधर-उधर भटकता हो, तो भी हमें नियमित रूप से ध्यान का अभ्यास करते रहना चाहिये। ध्यान के द्वारा प्राप्त हुई एकाग्रता, आत्मबोध तथा शान्ति कर्मयोग के ठीक-ठीक सम्पादन और दैनन्दिन मानसिक द्वन्द्वों के समाधान में भी बड़ी सहायक सिद्ध होगी। प्रारम्भ में कर्म तथा ध्यान को समानान्तर साधना के रूप में साथ-साथ करना होगा। यदि ध्यान के पूर्व तीव्र प्रार्थना की जाय, तो मन के भटकाव की समस्या में कमी आयेगी। कभी-कभी लोग शिकायत करते हैं कि जब वे ध्यान के लिये प्रयास करते हैं, तो उनका मन इधर-उधर भटकने लगता है। ध्यान में बैठने के कुछ काल पूर्व तीव्र व्याकुलता के साथ ईश्वर से प्रार्थना करने पर इस समस्या पर काफी हद तक विजय पाया जा सकता है।

(१४) कर्मयोग में प्रगति का एक लक्षण है – मानसिक पवित्रता की उपलब्धि। दूसरा लक्षण है – मानसिक तनाव में कमी। यदि कर्म मन को शुद्धतर तथा तनावमुक्त करने के स्थान पर उसे अधिकाधिक अशुद्ध कर रहा हो और मानसिक तनाव में वृद्धि कर रहा हो, तो सम्भव है कि हमारी कार्य-पद्धति में कोई भूल हो।

(१५) कर्मयोग में महत्त्व इस बात का नहीं है कि हम क्या कर रहे हैं, बल्कि हम उसे कैसे कर रहे हैं। कर्मयोग में उच्चतर तथा निम्नतर कर्म का, आध्यात्मिक तथा जागतिक

का कोई भेद नहीं है – 'जूते की सिलाई से चण्डीपाठ तक' के सारे कार्य पवित्र हैं।

(१६) इस तरह का कार्य चुनो, जो तुम्हारे स्वभाव के साथ मेल खाता हो। यदि तुम्हें अपना कार्य चुनने की स्वाधीनता न हो, तो तुम्हें जो भी कार्य दिया जाय, उसे अपने लिये सार्थक बनाने का प्रयास करो।

(१७) अपने बाह्य जीवन को अपने आन्तरिक जीवन की अभिव्यक्ति बनाओ। तुम्हारा सम्पूर्ण जीवन आदर्श के प्रति एक अखण्ड बलिदान हो।

(१८) तुम जो कुछ भी करो, उसे ठीक ढंग से करो। कर्म में निपुण बनो। अस्त-व्यस्त रूप से, उल्टे-सीधे ढंग से कार्य करने से बचो और समय का दुरुपयोग मत करो।

(१९) यांत्रिक रूप से कार्य मत करो। प्रत्येक कर्म में कुछ नया आयाम जोड़कर उसे सृजनात्मक रूप से सम्पन्न किया जा सकता है।

(२०) कर्मयोगी को जगत् में धर्म की अन्तिम विजय पर विश्वास होना चाहिये। अत: जब कभी उसे धर्म तथा अधर्म, भलाई तथा बुराई के बीच द्वन्द्व का सामना करना पड़े, तो उसे सर्वदा धर्म का पक्ष लेना चाहिये।

(२१) नैतिकता में प्रतिष्ठित हुए बिना कर्मयोग असम्भव है। सर्वदा कुछ नैतिक सिद्धान्तों को पकड़े रहो। इन सिद्धान्तों पर आधारित अपनी स्वयं की एक कर्मनीति रखो अर्थात् कर्म के नैतिक लाभ तथा महत्त्व में और चरित्र को सुदृढ़ बनाने की इसकी अन्तर्निहित क्षमता में विश्वास रखो।

(२२) सर्वदा व्यक्तिगत लाभ के स्थान पर सामूहिक कल्याण को प्राथमिकता दो। सेवा के नाम पर दूसरों का, विशेषकर निर्धनों का शोषण मत करो।

(२३) अपनी अन्तरात्मा की आवाज के विरुद्ध कुछ भी मत करो। ऐसा कुछ भी मत करो, जो तुम्हारे स्वाभिमान को नीचे गिराता हो। अहंकारी हुए बिना उच्च स्वाभिमान का भाव रखो।

(२४) ईर्ष्या या बदला चुकाने का भाव मत रखो। देखते रहो कि किस प्रकार सर्वत्र कर्म का चक्र चलता हुआ कुछ लोगों को ऊपर उठा रहा है और कुछ को कुचल रहा है।

(२५) सेवा को अपना जीवन-दर्शन बनाओ। कर्तव्य के रूप में नहीं, बल्कि अपनी स्वाभाविक जीवन-धारा के रूप में सेवा करो। सेवा में आत्म-बलिदान की आवश्यकता होती है, सर्वदा अपना बलिदान देने के लिये तैयार रहो।

(२६) कर्मयोग कोई ऐसी तकनीक नहीं है, जो सांसारिक जीवन में निश्चित रूप से सफलता दिलाये। नि:सन्देह कर्मयोग हमें अपना कार्य भलीभाँति सम्पन्न करने का निर्देश देता है, परन्तु हमारे कर्म की परिणति सफलता में होगी या नहीं, यह अन्य कई बातों पर निर्भर करता है।

(२७) जीवन में असफलताएँ, निराशाएँ, कष्ट आदि अपरिहार्य हैं। कर्मयोगी को इनसे निरुत्साहित नहीं होना चाहिये। उसे हताश हुए बिना सच्चे हृदय से प्रयास करते रहना होगा।

(२८) कर्मयोगी को सर्वदा मन का समत्व भाव बनाये रखना चाहिये। उसे सफलता तथा असफलता, प्रशंसा तथा निन्दा – सभी अवस्थाओं में शान्त रहना चाहिये। इस प्रकार की आन्तरिक शान्ति की उपलब्धि के लिये एक गुण होना परम आवश्यक है और वह है सहनशीलता।

(२९) अपने जीवन के कष्टों तथा असफलताओं के लिये अनन्य लोगों पर दोषारोपण मत करो। 'अन्य लोगों का हमारे प्रति दृष्टिकोण तथा आचरण इस बात पर निर्भर करता है कि हमारा उनके प्रति कैसा दृष्टिकोण तथा आचरण है।' सामाजिक जीवन का यह एक महत्त्वपूर्ण नियम है। यदि कोई व्यक्ति हमारे प्रति दुर्व्यवहार करता है, तो हमें उसका वास्तविक कारण अपने भीतर ढूँढ़ना होगा। चारित्रिक पवित्रता, नि:स्वार्थ प्रेम तथा विनम्र व्यवहार के द्वारा अपने प्रति लोगों के अनुचित दृष्टिकोण में बदलाव लाया जा सकता है।

(३०) कर्म के क्षेत्र में एक प्रमुख समस्या यह है कि किस प्रकार हम अपने बड़ों, समकक्षों तथा छोटों के साथ भलीभाँति समायोजन करके चल सकें। कुछ लोग अपने बड़ों के साथ बड़ी आसानी से समायोजित कर लेते हैं, परन्तु समकक्षों तथा छोटों के साथ समायोजन करने में कठिनाई का अनुभव करते हैं। तीनों प्रकार के लोगों के साथ समायोजित करके चल पाने की क्षमता चारित्रिक परिपक्वता का लक्षण है।

(३१) समय का व्यवस्थापन कर्मयोग का एक महत्त्वपूर्ण पहलू है। कर्मयोगी को सभी कर्म उचित समय पर तथा कम-से-कम समय में पूरा करना चाहिये। एक सीमा से अधिक समाचार-पत्र, उपन्यास आदि पढ़ना, टी.वी. के कार्यक्रम देखना, गप्पें मारना तथा चंचलता प्रकट करना – समय की बरबादी तो है ही, साथ ही यह कार्य-कुशलता तथा एकाग्रता में ह्रास भी लाता है। अपनी दिनचर्या का दृढ़तापूर्वक पालन भी समय की उचित व्यवस्था में अत्यन्त सहायक है।

(३२) कामना दो प्रकार की है – एक को *विषय-भोग-वासना* कहते हैं, जो मनुष्यों तथा पशुओं में समान रूप से पायी जाती है। परन्तु दूसरी कामना केवल मनुष्य का ही वैशिष्ट्य है। इसे *फल-भोग-वासना* कहते हैं। मनुष्य न केवल अपने कर्मों का फल-भोग करना चाहता है, अपितु वह इसके लिये योजना बनाता है और चेष्टा भी करता है।

(३३) श्रीरामकृष्ण द्वारा श्रीमाँ सारदा देवी को दिया हुआ यह उपदेश सर्वदा स्मरण रखना चाहिये – "जहाँ जैसा

करना उचित हो, वहाँ वैसा करना चाहिये; जब जैसा करना उचित हो, तब तैसा करना चाहिये; जिसके प्रति जैसा आचरण उचित हो, उसके साथ वैसा करना चाहिये। (अर्थात् स्थान, काल तथा पात्र देखकर तदनुसार आचरण करो।)

(३४) प्रत्येक कार्य ईश्वर को समर्पण के भाव से करना चाहिये। परन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं है कि हम सब कुछ भाग्य के भरोसे अथवा अज्ञानी लोगों के मनमौजीपने पर छोड़ दें। जहाँ कहीं सम्भव हो, हमें ज्ञानियों तथा सज्जनों से सलाह माँगनी चाहिये, पहले से ही अपने कार्यों की योजना बना लेनी चाहिये और अपने कर्तव्यों को बड़ी सावधानी के साथ सम्पन्न करना चाहिये; परन्तु इन सबके साथ ही हमें ईश्वर से प्रार्थना भी करनी चाहिये और परिस्थितियाँ चाहे जो भी रूप क्यों न लें, उन्हें स्वीकार करते हुए आत्म-समर्पण के भाव से धैर्यपूर्वक प्रतीक्षा करनी चाहिये।

(३५) अन्तत:, व्यावहारिक जीवन में – कर्म को उपासना के साथ जोड़ना, अर्थात् सभी कर्मों को अपने इष्ट के लिये आहुति (याग या यज्ञ) के रूप में करना और इसके साथ ही आन्तरिक शान्ति तथा ईश्वर के साथ योग बनाये रखना – यही वास्तविक कर्म है। इस सन्दर्भ में लाटू महाराज (बाद में स्वामी अद्भुतानन्द) के प्रति कथित श्रीरामकृष्ण की निम्न-लिखित सलाह सम्पूर्ण जीवन के लिये मार्ग-दर्शन प्रदान करती है – "यज्ञ (याग) तथा योग (ईश्वर से सम्बन्ध) के द्वारा अपनी चेतना को जाग्रत रखना; सोने के पूर्व उन्हें पुकारना, अपने कर्मों के दौरान उन्हें पकड़े रहना और सर्वदा स्वयं को उनकी सेवा में लगाये रहना।

❖ (समाप्त) ❖

गुरुदेव स्वामी योगानन्दजी के सान्निध्य में

स्वामी अखण्डानन्द सरस्वती जी महाराज (वृन्दावन)

(स्वामी अखण्डानन्दजी सरस्वती – स्वामी योगानन्दजी के शिष्य थे, जिनके गुरु स्वामी नित्यानन्दजी श्रीरामकृष्ण के शिष्य थे और उन्हें स्वामी विवेकानन्द ने स्वयं आलमबाजार मठ में संन्यास की दीक्षा प्रदान की थी। प्रस्तुत हैं उनके गुरुदेव विषयक कुछ संस्मरण – सं.)

उन्होंने (स्वामी श्रीयोगानन्दजी) कहा, 'पण्डित! तुम वेदान्त-श्रवण के अधिकारी हो। मैं तुम्हें औपनिषद् अद्वैत सिद्धान्त का उपदेश करूँगा।' मैंने विनय से हाथ जोड़कर निवेदन किया, "स्वामीजी! मेरा संकल्प ऐसा है कि –

भरि लोचन बिलोकि अवधेसा।
तब सुनिहौं निर्गुन उपदेसा।।

पहले मुझे इन्हीं नेत्रों से सगुण-साकार भगवान् का दर्शन होना चाहिये। इष्ट साक्षात्कार-पर्यन्त उपासना करके फिर वेदान्त-श्रवण करूँगा।" उन्होंने समझाया, "आत्म-साक्षात्कार ही यथार्थ ज्ञान है। आत्मा परमार्थ सत्य है। उपासना में जिस साकार-निराकार रूप की भावना की जाती है, वह गुरु, शास्त्र के प्रति श्रद्धा से बनती है। अत: तुम पुन: विचार करके अपना निश्चय दृढ़ कर लो।"

मैंने पुन: साकार-उपासना के प्रति अपनी श्रद्धा दुहरायी। उन्होंने मुस्कराकर स्वीकृति दी और कहा कि सबसे पहले गायत्री-पुरश्चरण करो। यज्ञोपवीत के समय आचार्य ने जो मंत्र दिया है, उसका विधिपूर्वक अनुष्ठान न किया जाय, तो हम अपने कर्त्तव्य से च्युत होते हैं एवं दूसरे मंत्र तथा देवता का प्रसाद पाना भी कठिन हो जाता है। उन्होंने मुझे भगवान शंकराचार्य की गायत्री-पुरश्चरण पद्धति के अनुसार संक्षेप में पुरश्चरण की प्रक्रिया बता दी। एक समय अन्नाहार, दूसरे समय दुग्धपान। जप-अनुष्ठान करने में प्रतिदिन प्राय: छह घण्टे लग जाते। मन में प्रसन्नता नहीं थी। कुछ भी करने का उत्साह नहीं था। संसार के व्यवहार में रुचि नहीं थी। जप करते-करते मन ठप्प हो जाता था। मैंने उनसे कहा, "स्वामीजी, मन तो लगता नहीं। बस, जीभ हिलती रहती है, माला फिरती रहती है।" उन्होंने कहा, "मंत्र का जप जिह्वा से किया जाता है, उसमें मन लगने या न लगने की कोई विधि नहीं है। मन से ध्यान होता है, वाक् से जप। मंत्र में जो अक्षर हैं, उनमें अचित्य शक्ति है। उनके उच्चारण से शरीर की एक-एक नाड़ी चैतन्य हो जाती है, जाग जाती है। अन्तरंग नाड़ियाँ किसी भौतिक यंत्र से जगायी नहीं जा सकती। उनके लिये शास्त्रोक्त शब्दों की ध्वनि ही परिवर्तन करनेवाली होती है। शब्दों का सूक्ष्म स्पन्दन रग-रग में एक ऐसी रासायनिक प्रक्रिया उत्पन्न कर देता है, जिसमें शरीर में दिव्यता आने लगती है। प्राण स्थिर होने लगते हैं। मन प्रसाद एवं उल्लास से परिपूर्ण हो जाता है। जप साधन है। प्रसाद अवान्तर फल है। ईश्वर का अनुग्रह परम फल है। पहले फल मत चाहो; साधना करो, मन लगने से जप नहीं होता। जप करने से मन लगता है।"

जप के समय भूमि, आसन, शरीर तथा धारण किये हुये वस्त्र पवित्र होने चाहिये। जहाँ तक सम्भव हो, वस्त्र सिले, जले या पराये न हों। अनुष्ठान के आरम्भ में ही पीपल के पत्ते पर रखकर माला का संस्कार कर लेना चाहिये। जप की गणना रखनी चाहिये। जैसे संग्रही पुरुष जितना-जितना धन एकत्र होता है, उतना-ही-उतना गौरव का अनुभव करता है – वैसे ही

जापक को भी अपनी हीनता के भावों को मिटाने के लिये ठीक-ठीक जप होने पर हर्ष का अनुभव होना चाहिये। किसी तरह की उतावली नहीं करनी चाहिये और यथासम्भव विज्ञापन से बचना चाहिये। अपनी माला औरों को न दिखावें। किसी के सामने मंत्र का उच्चारण न करे। यश, कीर्ति, प्रतिष्ठा, सत्कार आदि लौकिक वस्तु की इच्छा न करे। इष्ट-देवता पर विश्वास रखे। यदि स्वप्न-दर्शन, एकाग्रता, तन्मयता न हो, तो ऐसा समझना चाहिये कि मंत्र का प्रभाव अन्तर्देश में गम्भीरता से संचित हो रहा है। छोटी-छोटी लहरें नहीं छलकती हैं। सहसा इसका उत्तम परिणाम होने वाला है।

गायत्री-पुरश्चरण पूरा हुआ। इससे स्वामीजी बहुत प्रसन्न हुये। अब उन्होंने मुझे श्रीकृष्ण-मन्त्र की दीक्षा प्रदान की। 'दीक्षा' शब्द का अर्थ है – 'दान' और 'क्षेप' गुरु का अनुग्रह और शिष्य की श्रद्धा के मिलन का नाम ही दीक्षा है। दीक्षा के अनेक प्रकार हैं – मानसी, स्पार्शी, चाक्षुषी, क्रियावती आदि। स्वामीजी ने मुझ पर सब प्रकार से अनुग्रह किया और मैं श्रीकृष्ण-मन्त्र का सविधि अनुष्ठान करने लगा। भूतशुद्धि, न्यास, धारणा के प्रयोग चलने लगे। भोजन, शयन नियमित था। मैं अपने गाँव से लगभग पाँच मील दूर उनकी कुटिया पर प्रातःकाल ही पहुँच जाता। कुटिया की सफाई करता। फूल-पौधों को सींचता। स्वामीजी अपने गुरुदेव के चित्र में ही ब्रह्मा, विष्णु, महेश, राम, कृष्ण आदि सबकी पूजा कर लेते। दो बजे के लगभग सहेपुर गाँव से उनके लिये भिक्षा आती। वे भोजन करते। ब्राह्मण, क्षत्रियों के घर से एक-एक दिन बँधे हुये थे। नियत समय पर लोग अपने आप भिक्षा पहुँचा जाते थे। मैं कभी-कभी स्वामीजी की आज्ञा से गाँव में यदुनन्दन पण्डित के घर भोजन कर आता। क्षत्रियों के घर में केवल पक्की रसोई खाता था। परन्तु ऐसा महीने में कभी-कभी हो जाता, अन्यथा मैं अपने घर पर लौट आता।

यथाशक्ति श्रद्धा एवं विधि से अनुष्ठान चलता रहा। एक पूरा हुआ, दूसरा आरम्भ किया। तीसरा-चौथा भी सम्पन्न हुआ। स्वामीजी की आज्ञा थी कि कलियुग में जप की संख्या चतुर्गुण होनी चाहिये। स्वामीजी से सीखकर, मैं सब विधि-विधान भलीभाँति करने लगा था।

जब मैं उदास, निराश एवं विषाद का ग्रास होने लगता, तब स्वामीजी बड़े वात्सल्य से मुझे उत्साहित करते। 'क्लैब्यं मा स्म गमः' – नपुंसक मत बनो। कोई सफलता नहीं दिखती, इससे क्या? साधन की घनघोर अन्धकारमयी निशा का अब अवसान होनेवाला ही है। ऐसा मत समझो कि यह अन्धकार अविनाशी है। अब थोड़ा ही शेष है। रात बीत गयी – दो घड़ी बाकी रही। सूर्योदय होगा। हृदय कमल खिलेगा।

एक बार स्वामीजी की कुटिया से गंगा के किनारे-किनारे अपने गाँव के लिये चला, तो मार्ग लम्बा हो जाने से विलम्ब हो गया। अन्धेरे में गंगा-स्नान करने के लिये उतरा। गड्ढा था। तैरना आता नहीं था। डूबने लगा। अन्धकार में ऐसा अनुभव हुआ कि गंगाजी में डूबते समय, किसी ने आकर मेरी गर्दन पकड़ी और निकाल कर बाहर बालू में रख दिया। वहाँ कौन था? कोई अदृश्य शक्ति रही होगी। मैं उसे देख नहीं सका।

स्वामीजी का नाम श्री योगानन्द पुरी था। एक बार वे कर्णवास में चातुर्मास्य करने के लिये गये। मैं भी उनके साथ वहाँ गया। वे पक्के घाट के श्रीराधाकृष्ण मन्दिर के ऊपरी तल्ले में रहते थे। उनकी भिक्षा कहीं से आती थी। मैं अपने लिये प्रायः अँगीठी पर खिचड़ी बना लेता। दाल, चावल, आलू, घी – बराबर-बराबर उचित जल में पका लेता। ऊपर से नमक के सिवाय और कुछ नहीं डालता। खिचड़ी पकती रहती, मैं जप करता रहता। वहाँ मैं जब जप करने बैठता, तो ऐसा लगता कि मेरी माताजी एवं पत्नी मेरे सामने खड़ी हैं। उनकी आँखों से आँसू गिर रहे हैं और मेरे लिये अत्यन्त व्याकुल हो रहे हैं। मैंने स्वामीजी से निवेदन किया। इस पर स्वामीजी ने कहा, "यह सब अनुष्ठान का विघ्न है। जब साधक सिद्धि-लाभ के निकट पहुँच जाता है, तब देवता लोग माता, पत्नी, पुत्र आदि का वेष धारण करके विघ्न डालने लगते हैं। इनसे सावधान रहना चाहिये। वे लोग अपने घर में सुखी हैं। तुम उनकी चिन्ता मत करो।" बहुत समझाने-बुझाने पर भी मेरा मन मानता नहीं था।

उन दिनों पक्के घाट पर ही, शिवजी के मन्दिर के ऊपरी भाग में, स्वामी निर्मलानन्दजी महाराज रहते थे। बगल में ही स्वामी विवेकानन्द जी भी रहते थे। मैं कभी-कभी निर्मलानन्दजी के पास जाता। वे भाव के विकास की बात समझाते। कहते – "जैसे तुम अपने साढ़े तीन हाथ के शरीर को शान्तनु द्विवेदी सरयूपारीण ब्राह्मण मानते हो, वैसे ही यदि तुम सारे भारतवर्ष को अपना स्वरूप मानो, तो भाव में परिवर्तन हो जायेगा। हिमालय सिर है। कन्याकुमारी पाँव, कराची और दार्जिलिंग तुम्हारे दोनों हाथ हैं। व्रज तुम्हारा हृदय है। वहीं श्रीकृष्ण की लीला हो रही है।" परिच्छिन्न देह में 'मैं' भाव तोड़ने के लिये वे ऐसी बातें बताया करते थे। स्वामी विवेकानन्द जी के साथ गहन वेदान्त-चर्चा होती थी। मेरे स्वामीजी भी कभी-कभी उसमें सम्मिलित हो जाते थे। स्वामी निर्मलानन्द जी, मेरे स्वामीजी को अपने गुरु-तुल्य मानते थे।

मेरा मन कर्णवास से उचटने लगा। एक संकल्प आया कि यहाँ से अपने घर चलें। मार्ग में रामघाट चलकर श्री उड़िया बाबाजी का दर्शन भी कर लें। स्वामीजी मेरे मन की स्थिति समझ गये। उनका अभिप्राय था कि साकार-दर्शन का अनुष्ठान करते समय वेदान्तियों के साथ ज्यादा हिलना-मिलना, संसर्ग-आलाप नहीं रखना चाहिये। क्योंकि यदि वे इष्टदेव या आराधना के सम्बन्ध में मिथ्यात्व का संस्कार डाल

देंगे, तो जप-तप सब शिथिल हो जायेगा। स्वामीजी ने मुझे कोई ऐसी वस्तु दी, जिसको परसों ले जाकर काशी में माताजी को देना आवश्यक था। ये माताजी वही थीं जिनकी मैंने (आगे) 'चन्द्रमा पण्डित' के संस्मरण में चर्चा की है। अस्तु रामघाट जाकर श्री उड़िया बाबाजी के दर्शन करने का कार्यक्रम कट गया। वहाँ से सीधे काशी आना पड़ा। निश्चय ही उनका यह अनुग्रह था – वेदान्त-चर्चा से बचाने के लिये।

अपने गाँव में पहुँचने पर मैंने देखा कि घर के लोग बड़े सुखी, स्वस्थ एवं प्रसन्न थे। मैं कहाँ जा रहा हूँ, यह बताकर नहीं गया था। घर के सभी लोगों ने यह कल्पना कर ली थी कि मैं गया जिले के इमामगंज में अपने परम्परागत शिष्य, महाकवि शीतल सिंह, जय प्रकाश सिंह, परमेश्वर सिंह आदि के पास चला गया हूँ। वहाँ से लौटूँगा तो बहुत-सा सामान व दक्षिणा भी मेरे साथ होगी। जब मैं खाली हाथ लौटा और लोगों को पता चला कि मैं तो साधना करने के लिये स्वामीजी के साथ गंगातट पर कर्णवास गया था, तो घर के सभी लोग दुखी हो गये, रोने-पीटने लगे। मेरे जाने का उन्हें किञ्चित् भी दु:ख नहीं था, मेरे खाली हाथ लौटने का दु:ख था। इस घटना का मेरे मन पर गहरा असर पड़ा। मुझसे किसी का प्रेम नहीं है। ये लोग धन-दौलत से ही प्रेम करते हैं। मन में वैराग्य का संचार हुआ। संसार के सब सम्बन्ध स्वार्थ के हैं। प्रीति करने योग्य तो केवल भगवान ही हैं।

निष्काम अनुष्ठान का फल वैराग्य एवं भगवत्प्रेम की वृद्धि ही है। परन्तु उस समय भगवान की यह कृपा अनुभव में नहीं आती थी। दिन-दिन उदासी बढ़ती जाती थी। परन्तु, अनुष्ठान बराबर चलता रहा। घर के काम-काज की सँभाल या देखभाल मैं नहीं करता था। हाँ, अध्ययन के लिये काशी जाता और कुछ दिन रहकर लौट आता। ... अध्ययन करने पर भी मेरे अनुष्ठान में कोई बाधा नहीं पड़ती थी। घर आने पर स्वामीजी के पास जाया करता था।

काशी के जिन विद्वानों से मैं अध्ययन करता था, उनमें से अधिकांश अनुष्ठान प्रेमी थे। पण्डित रामभवन उपाध्याय, बलिया जिले के सुखपुरा गाँव के निवासी थे। अन्नपूर्णा के अनन्य उपासक थे। वाराणसेय संस्कृत विद्यालय (अब सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय) के वरिष्ठ प्राध्यापक थे। बड़ी पियरी और गोविन्दपुरा – दोनों स्थानों में मैं उनके साथ रहा करता था। वे दो बजे रात से आठ बजे तक सविधि पूजा, जप, पाठ करके तब पढ़ाने के लिये तैयार होते थे। उनकी विद्या देखकर, अनुष्ठान की उपयोगिता में अधिकाधिक श्रद्धा बढ़ती जाती थी। पण्डित श्री रामपरीक्षण शास्त्री, बस्ती जिले के थे। काशी में ईश्वरगंगा में रहते थे। कोई पचास वर्ष तक वे अपनी दहलीज से बाहर नहीं निकले। उनकी विद्या अनुष्ठानजन्य थी। वे आक की चौकी पर बैठकर किसी भी शास्त्र को पढ़ा सकते थे। बड़े-बड़े धुरन्धर, देशी-विदेशी विद्वान् अपनी शंका-समाधान हेतु उनके पास आया करते थे। मैं उनके यहाँ, कुएँ से पानी भरता, शौचालय साफ करता। वे पढ़ाते तो थे ही, शास्त्रों का अभिप्राय हृदयंगम कराने में बड़े निपुण थे। उन्होंने मुझसे लिखने का काम लिया। वे बोलते जाते, मैं लिखता जाता। न्याय, सांख्य, वेदान्त-दर्शनों में स्वीकृत प्राय: सभी पदार्थों पर उन्होंने अलग-अलग सूत्र-ग्रन्थ लिखवाये थे। जैसे – आकाश, वायु तेज, जल, पृथिवी आदि के सम्बन्ध में परमाणु-दर्शन, प्रकृति-दर्शन, आत्म-दर्शन। ४२ विषयों की गणना हो गयी थी। एक काव्य के भी कुछ सर्ग लिखाये थे। उनकी यह सिद्धि देखकर भी, अनुष्ठान पर श्रद्धा की वृद्धि हुई। अनुष्ठान चलता ही रहा।

मैंने अपनी नानी के गुरु स्वामी श्री मनीषानन्द सरस्वती से योग-भाष्य तथा याज्ञवल्क्य स्मृति की मिताक्षरा (व्यवहाराध्याय मात्र) पढ़ी थी। वे प्राय: नग्न ही रहते थे। टेढ़ी नीम मुहल्ले में शिवहर राजा के शून्य महल में रहते थे। उन्हें देखकर त्याग-वैराग्य की शिक्षा मिलती थी। श्री शंकर चैतन्य भारती जी महाराज की श्रीविद्या भी बहुत प्रसिद्ध हो रही थी।

मेरे गुरु पण्डित श्रीराम भवन उपाध्याय ने स्वामी विशुद्धान्द सरस्वती के पास जाने को मना कर दिया था। उनका कहना था कि सिद्धि के चक्कर में फँस जाओगे, तो पढ़ाई नष्ट हो जायेगी। उन्होंने और भी कई अन्य विद्धानों के पास, इसी कारण से जाने से मना कर दिया। वे अनुष्ठान के लिये उत्साहित किया करते थे।

मैं घर पर ही बैठकर रात्रि के समय अनुष्ठान में संलग्न था। प्राय: स्वास्तिक आसन से बैठता। पीठ की रीढ़ सीधी होती। कुम्भक की प्रधानता से थोड़ा-सा प्राणायाम करके, जप के समय सुविधा के अनुसार आँखें खुली, अधखुली या बन्द रखता। बीच-बीच में श्रीकृष्ण का स्मरण होता। परन्तु ध्यान नहीं लगता। सहसा शरीर में एक विशिष्ट स्पन्दन-सा हुआ। ऐसे लगा जैसे कोई चरण, कटि, नाभि, हृदय, हाथ गर्दन में से प्राणों को ऊपर खींच रहा है। सारा शरीर शून्य हो गया। केवल शिरोभाग में एक ज्योतिश्चक्र बनने लगा। प्रकाश-ही-प्रकाश! पहले तो मृत्यु का भय लगा। पीछे शरीर का विस्मरण हो गया। मैं एक दिव्य-प्रकाश के लोक में खो गया। कुछ समय के बाद सारे शरीर में जीवन और प्राणों का पूर्ववत् संचार हो गया। जब यह स्थिति, पुन: पुन: होने लगी तो सारा भय मिट गया। यह एक साधन की स्थिति है, ऐसा अनुभव होने लगा। इससे उठने के बाद जब यह ध्यान आता – हाय, हाय, यह प्रकाश तो है, पर इसमें अपने प्यारे इष्टदेव का दर्शन नहीं होता, यह कितने दु:ख की बात है। कभी दु:ख बढ़ जाता। कभी रो लेता। कभी प्रार्थना करता कि हे प्रभो! अब आपके दर्शन के बिना रहा नहीं

जाता। इसी भाव के श्लोक या पद का उच्चारण करने लगता। कभी अपनी दीनता-हीनता असमर्थता देखकर ग्लानि होती। श्रीचैतन्य महाप्रभु का वह श्लोक याद आता जिसमें कहा गया है कि सर्वत्याग के बिना पूर्णरूप से भजन होना शक्य नहीं है। भगवत्-प्राप्ति की लालसा में अहंता, ममता भी बाधक है। अन्ततोगत्वा त्याग का ही निश्चय हुआ।

जिस दिन चतुर्थ अनुष्ठान पूर्ण हो रहा था, मैं उस दिन गंगाजी में स्नान करने के लिये डँभारी घाट गया। कपड़े और माला तट पर रखकर जब स्नान करने लगा, तो कौआ माला उठाकर ले गया और बीच गंगा में डाल दिया। मन में आया, अब अनुष्ठान की पूर्णाहुति में भी त्याग-वैराग्य के बिना काम नहीं चलेगा। तीव्र वैराग्य के बिना अब तक किसी को भी भगवत्प्राप्ति नहीं हुई है।

दूसरे दिन प्रात:काल चार बजे उठा। नित्यकर्म करके घर से निकल पड़ा। धोती-कुर्ता पहने हुये था। सिर-पाँव नंगे थे। हाथ में एक लोटा और जेब में पाँच आने पैसे। चलते-चलते दोपहर हो गया। मैं लगभग बीस मील दूर शिवपुर पहुँच गया। काशी पार कर गया था। धूप तेज थी। भूख-प्यास लग गई थी। मार्ग में किसान लोग अपने खेतों में पानी देने के लिये पूर चला रहे थे। जाकर वृक्ष के नीचे विश्राम किया। हाथ-पैर धोये। पानी पीकर ज्यों-ही आगे चलने को हुआ, त्यों-ही मेरे गाँव के पढ़े-लिखे एक सज्जन जो कि चाचा लगते थे, वहाँ आ पहुँचे। वे वर्मा-शेल के कोई अधिकारी थे। बनारसी इक्के पर कहीं जा रहे थे। मुझे देखकर बोले, ''तुम यहाँ कैसे? सिर-पाँव नंगे! कन्धे पर चादर भी नहीं। कहाँ जा रहे हो?'' उन्होंने अपनी आगे की यात्रा स्थगित कर दी। मुझे इक्के पर बैठाकर काशी ले आये। स्नान, भोजन की व्यवस्था की। जूते, कपड़े खरीद कर दिये। रात को बाँसफाटक के पास एक सिनेमा था, उसमें ले गये। उन दिनों बोलनेवाले चित्रपट नहीं थे। 'शीरी-फरहद' चल रहा था। शीरी को पाने के लिये फरहाद ने अपने हाथों एक पहाड़ तोड़ा था और उससे दूध का झरना बहा था। यह सिनेमा देखकर मेरे मन में दो प्रकार के भाव आये। एक तो अपने लक्ष्य की प्राप्ति के लिये कितना पौरुष प्रयत्न होना चाहिये। दूसरा यह कि मैं जितना कर सकता हूँ, इससे अधिक तो कर ही नहीं सकता।

सिनेमा से लौटने पर उन्होंने अपनी पत्नी को मेरे पास भेज दिया कि ये इतना पैदल चलकर थक गये हैं, इनके पाँव दबा दो। मैं रोने लगा कि चले थे भगवान का दर्शन करने के लिये कि हिमालय में जाकर तप करूँगा; यह सब क्या हो रहा है? क्या मेरे किये कुछ नहीं होता!

दूसरे दिन उन्होंने मुझे मेरे घर पहुँचा दिया और मैं अपनी बैठक चारों ओर से बन्द करके विचार करने लगा – अब क्या करूँ? जप, उपवास, अनुष्ठान यथाशक्ति करता रहा। त्याग-वैराग्य का प्रयास किया तो यह गति हुई! साधन इससे अधिक हो ही नहीं सकता। ऐसा लगता है कि यह शरीर भगवत्-प्राप्ति के योग्य नहीं है। तब क्या इसे छोड़ देना ठीक रहेगा? शरीर को पकड़ना या छोड़ना, दोनों में ही गाढ़ ममत्व परिलक्षित होता है। उपाय! उपाय में बल कहाँ से आवेगा? मैं क्या अपने बल से ईश्वर को प्राप्त कर सकूँगा? एक बार 'मै' का साधन, उपाय युक्ति का बल चकनाचूर हो गया। मेरा 'मैं' भूल गया। जैसे कोई अपने 'मैं' को मनुष्य बनाये रखे और आत्मा, ब्रह्म की एकता का साक्षात्कार करने का दावा करे तो यह मिथ्याभिमान है; इसी प्रकार अंश अपने बल का पृथक रूप से प्रयोग करता रहे और अंशी के साक्षात्कार का दम्भ भरे, तो वह केवल कल्पना मात्र है। मेरी युक्ति, उक्ति, प्रयुक्ति बस! बस!! अब मुझसे कुछ नहीं होता। निस्साधन एवं निरभिमान स्थिति होते ही उस घोर अन्धकारमय गृह में एक महान प्रकाश का आविर्भाव हुआ। उसमें धरती, घर, खपरैल, खाट एवं शरीर का लोप हो गया। बिना किसी वस्तु के, बिना किसी साधन के, बिना वृत्ति के, बिना किसी कारण के, अनुभव में आने वाला यह प्रकाश क्या? कुछ आश्चर्य और भी हुआ, मैं जैसे आनन्द में मतवाला हो गया। मैं न हाथ जोड़ सका, न सिर झुका सका, न दण्डवत् कर सका। हाँ, एक प्रेरणा मिली और वह थी अद्वैत सिद्धान्त के लिये जिज्ञासा एवं मनन को उन्मुख करने की। वहाँ कुछ नहीं था। फिर वही अन्धकार!

आनन्द में भरा-भरा बाहर निकला। सबसे पहले माताजी मिलीं। 'बस, मेरा काम हो गया।' उन्होंने मेरे पाँव छू लिये। पण्डित अक्षयवर तिवारी मिले, उन्होंने मेरी मस्ती देखकर स्वयं पाँव छू लिये। जब 'मैं' और 'मेरे' का बल टूट गया, उपाय निष्फल हुये, तब उस 'निर' में से उपेय का आविर्भाव हो गया।

स्वामीजी श्री योगानन्दजी महाराज के पास जाना-आना होता ही रहा। कभी जेठ की दोपहरी में नंगे पाँव, नंगे सिर चले जाते, तो वे हँसकर बोलते, ''बाहर गर्मी है, भीतर आ जाओ। यहाँ शीलता ही शीलता है।'' हँसकर भीतर बुला लेते। कभी गम्भीर शास्त्र-चर्चा करते। शिवरात्रि आदि का दिन होता, तो पूजा-पाठ में ही लगा देते। कभी भागवत की वह प्रांजल एवं प्रसाद-माधुर्य से परिपूर्ण कथा सुनाते कि जगत् कि विस्मृति हो जाती। उनकी ओजमयी वाणी आज भी कानों में गूँज जाती है और हृदय को प्रकाश देती है।

मेरे गाँव से थोड़ी-ही दूर ५ मील पर एक सहेपुर गाँव है, वहीं वे रहते और स्वाध्याय, जप, पूजा, ध्यान, चिन्तन में अपना समय बिताते। कभी कोई आ जाता तो उससे सत्संग-चर्चा भी हो जाती। एक दिन कादिराबाद के ठाकुर साहब प्रसिद्ध नारायण सिंह, जो उन दिनों एक प्रतिष्ठित

विद्वान माने जाते थे तथा अनेक ग्रन्थों के लेखक थे, अनेक राज्यों के दीवान रह चुके थे, मेरे साथ वहाँ गये। स्वामीजी से वेदान्त-सम्बन्धी समाधान पाकर ठाकुर साहब बोल पड़े, "ठसाठस ठोस प्रज्ञानघन!" सहेपुर में वैसे तो स्वामी योगानन्दजी के अनेक भक्त थे, परन्तु उनके परम श्रद्धालु शिष्य रजिस्ट्रार साहब श्री उदितनारायण सिंह एवं उनके परिवार तथा जाति के लोग थे। वे ही, वहाँ स्वामीजी को ले आये थे। सेवा तो सभी करते थे। उन्हीं रजिस्ट्रार के मित्र थे भदाहूँ के ठाकुर साहब लालबिहारी सिंह। वे ही मुझे पहले-पहल स्वामीजी के पास ले गये थे। स्वामीजी ने मुझे अपने अनेक ग्रन्थ भी दिये थे, जिनमें श्रीपार्थसारथी मिश्र की 'शास्त्रदीपिका' एवं पञ्चदशी की 'श्रीपूर्णानन्देन्दु टीका' मुख्य थी। वे सभी शास्त्रों को बोलचाल की भाषा में सरल-से-सरल करके समझा देते थे।

एक बार मैं उनके साथ वाराणसी के काशी देवीमठ में गया। वहाँ उनके गुरुभाई स्वामी ज्योतिर्मयानन्दजी मिले। दोनों के गुरु स्वामी श्री नित्यानन्दजी महाराज थे। ज्योतिर्मयानन्द जी को योग-साधना का अच्छा अभ्यास था। उन्होंने मुझसे कहा, "यदि संसार में कुछ करना, भोगना हो तो पूरा कर लो। इधर से निश्चिन्त होकर केवल मेरे पास आ जाना। चुटकी बजाते ही तत्त्वज्ञान हो जायेगा।" वहीं कनखल के महामण्डलेश्वर स्वामी श्रीभागवतानन्द जी महाराज आये हुये थे। व्याकरणाचार्य स्वामी श्रीरामानन्द जी तो थे ही। मैं श्रीदयालपुरीजी महाराज के पास अधिक बैठा करता था। उनसे वेदान्त की गम्भीर चर्चा होती और वेदान्त दर्शन के सूत्रों पर घण्टों तक ऊहापोह चलता रहता। स्वामी श्री योगानन्दजी महाराज ने वहीं से पत्र लिख कर मुझे कनखल भेज दिया था, जहाँ मैं वेदान्त का अध्ययन करता-कराता था। कनखल में ही महामण्डलेश्वर स्वामी श्री भागवतानन्दजी के संकेत पर भिक्षु शंकरानन्द जी महाराज का सत्संग प्राप्त हुआ।

स्वामी श्री योगानन्दजी महाराज के गुरु स्वामी श्री नित्यानन्दजी* और उनके गुरु परमहंस श्रीरामकृष्ण थे। परमहंस श्रीरामकृष्ण स्वामी तोतापुरीजी को अपना गुरु मानते थे।... पूर्व बंग के बारीसाल नगर में श्रीयोगानन्द का आश्रम था। वहीं से वे उत्तर-प्रदेश में आये थे। बाद में वृद्ध माताजी भी आ गयी थीं, जिनकी चर्चा आगे 'चन्द्रमा पण्डित' के प्रसंग में है।

* * *

एक बार श्रीस्वामीजी महाराज ने श्रीमद्भागवत के नव-योगेश्वरों के प्रसंग पर प्रवचन किया। स्वामीजी की विद्या, बुद्धि, शारीरिक व्यक्तित्व, भाषण बहुत ही प्रभावशाली थे। ... स्वामीजी जब भागवत-धर्म का निरूपण करते, तब श्रोता स्तब्ध रह जाते। ऐसा लगता जैसे हमारी सारी सत्ता, ज्ञान एवं आनन्द, स्वामीजी के भाषण से एक हो गया हो।

इन्हीं दिनों चन्द्रमा पण्डित से बातचीत हुई। दोनों एक स्वर से स्निग्ध-मुग्ध भाव से प्रवचन की प्रशंसा करते रहे। हम दोनों में कभी कोई सांसारिक या पारिवारिक चर्चा नहीं हुई। मैं अब तक उनके परिवार के किसी भी व्यक्ति को नहीं जानता हूँ। मिले भी हों, तो स्मरण नहीं है। थोड़े वर्षों के बाद मैं 'कल्याण' के सम्पादन-विभाग में चला गया। वे स्वामीजी का सत्संग करते रहे।

स्वामीजी का जीवन पूरा होने के बाद उनका मन संसार से विरक्त हो गया। जैसे भगवान से प्रेम होने पर संसार से वैराग्य हो जाता है, वैसे ही सद्गुरु से प्रेम होने पर भी संसार से वैराग्य हो जाता है। संसार की सभी वस्तुएँ परिवर्तनशील, नश्वर तो हैं ही, वे अपने रागी को पहचानती भी नहीं। उनके लिये अपने मालिक या सज्जन के हाथ में रहना या किसी दुष्ट-दुर्जन या किसी पराये के हाथ रहना समान ही है। उनकी जड़ता तो स्पष्ट है ही। जो चलते-फिरते सगे सम्बन्धी हैं, वे भी किसी के प्रति पूर्ण रूप से निष्कपट नहीं होते। पिता-पुत्र, पति-पत्नी, भाई-भाई और मित्र-मित्र भी परस्पर एक-दूसरे के प्रति पूर्ण रूप से निष्कपट नहीं होते। कोई-न-कोई बात ऐसी अवश्य होती है, जो दूसरे से छिपायी जाती है। यही कारण है कि महात्मा एवं शास्त्रों ने इस संसार को 'माया' कहा है। एक सपना-सा आ रहा है, इसमें अपना कुछ नहीं है। यह बात बाहर देखने से अवगत नहीं होती। परन्तु जब अपने ही मन की वास्तविकता का चिन्तन-मनन होता है, तब प्रकट हो जाती है। स्वामी श्री योगानन्दजी महाराज का वियोग होने पर चन्द्रमा पण्डित का मन संसार की ओर से उदास हो गया। इसके ह्रास, विनाश का चिन्तन होने लगा। अब उनके पास एक आश्रय था तो श्रीसरला माताजी का। ये सरला माताजी परमहंस रामकृष्ण की पत्नी श्रीसारदा माताजी की शिष्या थीं। उन दिनों माताजी की उम्र ८०-९० वर्ष के बीच में रही होगी। परन्तु उनका स्नेह, वात्सल्य, स्फूर्ति, क्रियाशीलता सभी गुण अद्भुत थे।

स्वामी श्री योगानन्दपुरीजी महाराज माताजी के प्रति बहुत

* स्वामी नित्यानन्दजी – पूर्वनाम श्री योगेन्द्रनाथ चट्टोपाध्याय। कलकत्ते के वराहनगर में निवास था। वराहनगर मठ में बीच-बीच में खाद्य-सामग्री दिया करते थे। १८९७ ई. में आलमबाजार मठ में स्वामी विवेकानन्दजी से संन्यास-दीक्षा प्राप्त की। कुछ काल स्वामी अखण्डानन्दजी के साथ महुला ग्राम में रहकर राहत-कार्य में हाथ बँटाया। तदुपरान्त वे बारीशाल गये और वहाँ नरोत्तमपुर ग्राम में आश्रम तथा अनेक शिष्य बनाये। १८ जून १९१३ को नित्यानन्दजी ने देहत्याग किया। उनके आश्रम का नाम हुआ – "श्रीरामकृष्ण-नित्यानन्द आश्रम'। स्वामी श्रीयोगानन्दजी उन्हीं के शिष्य थे। (द्र. श्रीरामकृष्ण-परिक्रमा, बँगला ग्रन्थ, सं. २००३, खण्ड १, पृ. १९६)

आदर-भाव रखते थे। जिन दिनों श्रीउड़िया बाबाजी महाराज किसी स्त्री से नहीं मिलते थे, उन दिनों माताजी उनके पास राम-घाट में आयी थीं। लोगों ने मना किया, "बाबा किसी स्त्री से नहीं मिलते।" माताजी ने कहा, "जाकर उनसे पूछ आओ कि वह माँ के पेट से निकला है कि नहीं?" श्रीउड़िया बाबाजी उठकर स्वयं उनके पास आ गये। वे वृद्धावस्था में भी बहुत बढ़िया-बढ़िया व्यंजन अपने हाथ से बनाती थीं और बड़े प्रेम से सबको खिलाती थीं। मैं दृढ़ता से कह सकता हूँ कि वह स्वाद फिर कभी कहीं किसी के भी बनाये हुये भोजन में नहीं आया। मुझे तो वे 'रे' कहकर पुकारा करती थीं।

चन्द्रमा पण्डितजी के लिये उन्हीं का सत्संग और उपदेश प्राप्त होता रहता था। माताजी उन दिनों वाराणसी में शिवाला घाट के पास किराये के एक मकान में रहने लगीं थीं और उनका नाम 'श्रीरामकृष्ण-नित्यानन्द आश्रम' रख दिया। मैं कभी-कभी उनके पास जाया करता था, वहाँ चन्द्रमा पण्डित भी मिल जाया करते थे। माताजी परमहंस रामकृष्ण और सारदा माँ के जीवन-प्रसंग और उपदेश सुनाया करती थीं। वह जीवन के अपूर्व दिन थे, जब वे सामने बैठाकर खिलाती जाती थीं और सारदा माँ के मातृत्व, सरलता, विनय, समभावना और सहृदयता का वर्णन करती जाती थीं।

एक बार प्रश्न उठा, "क्या हम उस (परमेश्वर) का दर्शन कर सकते हैं?" यह प्रश्न लेकर हम स्वामीजी के पास गये। श्री स्वामी योगानन्दजी महाराज ने अनुग्रह किया कि अब तुम गायत्री देवी का ध्यान मत करो। गायत्री छन्द है। मंत्र की अधिष्ठात्री देवता गायत्री देवी हैं। सृष्टि, स्थिति, प्रलय की उपाधि से उसकी ब्राह्मी, वैष्णवी एवं शाम्भवी शक्ति के रूप में उपासना होती है। तीनों की नियामक-शक्ति एक ही है और शक्तिमान परमेश्वर है। वह परमेश्वर कहीं दूसरे देश में, काल में दूसरी वस्तु के रूप में नहीं रहता। वह तुम्हारे हृदय में रहकर अनादि-बीज संस्कृति की उपाधि से तुम्हारी वृत्तियों का संचालन करता है। वही सविता अर्थात् सृष्टिकर्त्ता है और देव अर्थात् लीला, क्रीड़ा का सूत्रधार चेतना है। ज्ञाता, ज्ञान, ज्ञेय तथा नियन्ता, नियम्य आदि की त्रिपुटियाँ उसी से बनती हैं। वह अन्यत्र रहकर सृष्टि का निर्माण नहीं करता, तुम्हारे सम्मुख रहकर सृष्टि को प्रकाशित करता है। तुम परमेश्वर के भी द्रष्टा एवं प्रकाशक हो। त्रिपुटियों में परिवर्तन की प्रतीति होती है; परन्तु ज्ञान-स्वरूप तुम एक ही रहते हो। देश, काल, वस्तु, सर्जन-विसर्जन, उपाधि-उपहित, सब प्रतीतिमात्र हैं। तुम दृग्मात्र हो। अपने स्वरूप का ज्ञान ही वरणीय भर्ग है। भर्ग माने अविद्या एवं उसके कार्य को भर्जन करनेवाला, भूननेवाला, जलानेवाला। ध्यान का अर्थ है – तादात्म्य, उससे एकत्व का अनुभव। मेरे सामने से जैसे कोई आवरण हट गया हो। जिसको मैं अन्धकार समझता था, वही महा-प्रकाश हो। इस आत्म-ज्योति के प्रकाश में भू: भुव: स्व: की पृथकता अपने आप समाप्त हो गयी। केवल परिपूर्ण, अद्वितीय आत्म-तत्त्व ही शेष रहा। वह तत्त्व जिसमें काल की दाल नहीं गलती, जिसमें देश का निर्देश-प्रवेश नहीं होता, जिसमें वस्तुदृष्टि से आत्मा-अनात्मा का भेद नहीं है। मैं सोचने लगा मेरे अतिरिक्त और कुछ है ही नहीं। किसे जानूँ? किसे पाऊँ? किसे छोड़ूँ? क्या करूँ? गायत्री-मंत्र के तात्पर्य का पर्यालोचन करने से महावाक्य का अर्थबोध हो जाता है। पूर्वार्द्ध में 'तत्' पदार्थ की प्रधानता है और उत्तरार्द्ध में 'त्वं' पदार्थ की। महावाक्यार्थ, अकार-उकार-मकार एवं अमात्र रूप से प्रणव में समाहित है। प्रणव से महावाक्य, महावाक्य से गायत्री एवं गायत्री से चारों वेद; अर्थात् गायत्री वेदमाता हैं।

स्वामीजी के ज्ञान की गम्भीरता का अपरोक्ष अनुभव होने लगा। इन्हीं दिनों में स्वामीजी का शरीर पूरा हो गया। थोड़े दिनों में काशी में ही जहाँ स्वामीजी का शरीर पूरा हुआ था, वहीं श्रीमाताजी का शरीर भी पूरा हो गया।

स्वामी श्रीयोगानन्द जी महाराज की शिक्षा, दीक्षा, प्रेरणा, प्रोत्साहन से ही मेरी प्रतिभा प्रस्फुटित होती गयी। आज अतिशय कृतज्ञता के साथ मैं उनका स्मरण कर रहा हूँ।

('पावन प्रसंग' ग्रन्थ से संकलित)

भगवान की कृपा – *माँ सारदा*

पानी का स्वभाव ही है – नीचे की ओर जाना। सूर्य की किरण उसे भी आकाश की ओर खींच लेती है। इसी प्रकार मन की गति भी स्वभाव से निम्नगामी है – भोग की ओर है; भगवत्कृपा से वही मन ऊर्ध्वगामी हो जाता है।

भगवान का दर्शन उन्हीं की कृपा से हो सकता है; परन्तु साधक को निरन्तर जप-ध्यान करते रहना चाहिए। इससे मन का मैल दूर होता है। साधक को पूजा-पाठ आदि साधनाएँ करते रहना चाहिए। जैसे फूल हिलाने-डुलाने से उसकी महक निकलती है और चन्दन को घिसने से सुगन्ध निकलती है, वैसे ही भगवत्-तत्त्व की चर्चा करते-करते तत्त्वज्ञान का उदय होता है; और यदि कामनारहित हो सको, तो वह तत्काल हो सकता है।

माँ की स्मृति

स्वामी विजयानन्द

(माँ श्री सारदा देवी दैवी-मातृत्व की जीवन्त विग्रह थीं। उनके अनेक शिष्यों तथा भक्तों ने उनकी मधुर-पावन स्मृतियाँ लिपिबद्ध कर रखी हैं। बँगला ग्रन्थ 'श्रीश्री मायेर पदप्रान्ते' से इस लेख का अनुवाद किया है इलाहाबाद की श्रीमती मधूलिका श्रीवास्तव ने। – सं.)

(स्वामी विजयानन्द स्वामी ब्रह्मानन्द के शिष्य थे। १९३२ ई. में वे दक्षिण अमेरिका के अर्जेन्टीना में वेदान्त प्रचार करने गये और वहाँ आश्रम की स्थापना की। १९६९ ई. में वे भारत आये। उस समय कलकत्ते के अद्वैत आश्रम में निवास काल के दौरान एक दिन उन्होंने साधुओं से यह स्मृति सुनायी और उसे टेप-रेकार्ड कर लिया गया। माँ की यह स्मृति उसी टेप से लिपिबद्ध की गयी है। – सं.)

१९२० ई. के फरवरी मास के अंत में माँ पिछली बार की तरह जयरामबाटी से अस्वस्थ होकर उद्‌बोधन आयीं। शरत् महाराज (स्वामी सारदानन्द) से हम चार लोगों – स्वामी जगदानन्द, स्वामी मुकुन्दानन्द, स्वामी अक्षयानन्द (केशव) और मुझे – काशी सेवाश्रम में कर्मी के रूप में जाने का आदेश मिला। हम सभी लोग माँ को प्रणाम करने गये। माँ अपनी चारपाई पर पैर लटकाकर बैठी थीं। रासबिहारी महाराज ने मुझे आदेश दिया – सात हाथ दूर से प्रणाम करना, उससे आगे बढ़कर प्रणाम करना नहीं चलेगा। स्वामी जगदानन्द और मुकुन्दानन्द दोनों ही माँ के आश्रित हैं, वे भी सात हाथ दूर से प्रणाम कर चले गये।

उसके बाद ही महाराज (स्वामी ब्रह्मानन्द) शरत् महाराज और रामलाल दादा प्रणाम करने आये। महाराज माँ को प्रणाम करके उनके पास जाकर बोले, "माँ, आज आप कैसी हैं?" माँ ने धीरे-धीरे कहा, "राखाल, यह शरीर अधिक दिनों तक नहीं रहेगा।" शरत् महाराज घुटनों के बल जमीन पर बैठे थे, प्रणाम करके धीरे-धीरे उठ गये। रामलाल दादा ने पूछा 'चाची, कैसी हो?' माँ ने कोई उत्तर नहीं दिया।

उनके चले जाने पर केशव ने सात हाथ दूर से प्रणाम किया। उसी समय रासबिहारी महाराज, न जाने किस काम से सहसा कहीं चले गये। मैंने भी उसी प्रकार सात हाथ दूर से माँ को प्रणाम किया। माँ ने धीरे-धीरे कहा, "बेटा, थोड़ा और पास आओ।" साहस पाकर मैं उनसे तीन हाथ दूर जाकर खड़ा हो गया। उन्होंने पूछा, "बेटा, तुम्हारा नाम पशुपति है न?" मैं बोला, "हाँ, माँ।" माँ ने कहा, "तुम काशी जा रहे हो?" मैंने कहा, "लेकिन माँ, मेरी जाने की जरा भी इच्छा नहीं थी।" – "क्यों?" –"इसलिये कि हमारे घर के सभी लोग वहीं हैं। वहाँ जाने पर वे लोग मुश्किलें पैदा करेंगे।" माँ बोलीं, "तुम्हें कोई कठिनाई नहीं होगी, बेटा। काशी जाओ। वहाँ मेरे दो बड़े अच्छे लड़के हैं – एक का नाम है हरि (स्वामी तुरीयानन्द) और दूसरे का लाटू (स्वामी अद्‌भुतानन्द)।"

तो भी मैंने कहा, "लेकिन माँ, मेरी जाने की बिल्कुल इच्छा नहीं है।" वे बोलीं, "जाओ बेटा, तुम्हें कोई भय नहीं।" इसके बाद माँ ने कहा, "बेटा, मेरे और निकट आओ।" तब उनके और समीप जाकर मैंने धीरे-धीरे अपना सिर उनके चरणों में रख दिया। उन्होंने मेरे सिर पर हाथ रखकर कहा, "जाओ।" तभी रासबिहारी महाराज आ गये। उन्होंने नाराज होकर कहा, "तुमको मैंने दूर से प्रणाम करने के लिये कहा था।" माँ बोलीं, 'मैंने ही उसे बुलाया है। रासबिहारी, तुम शोर-गुल मत करो।"

यही माँ के साथ मेरी पहली और अन्तिम भेंट थी। इसके कुछ ही दिनों बाद अप्रैल महीने में काशी में लाटू महाराज का देहत्याग हुआ और जुलाई में माँ ने भी देहत्याग किया। ... माँ देश-विदेश में – सर्वत्र अपना कार्य किये जा रही हैं। मुझे लगता है, माँ मानो ठाकुर के साथ एक ही सिंहासन पर बैठी हुई हैं और उनसे कह रही है, "तुम जरा खिसक कर बैठो, आगे का कार्य अब मैं करती हूँ।"

संकलन तथा अनुलिखन – स्वामी चेतनानन्द
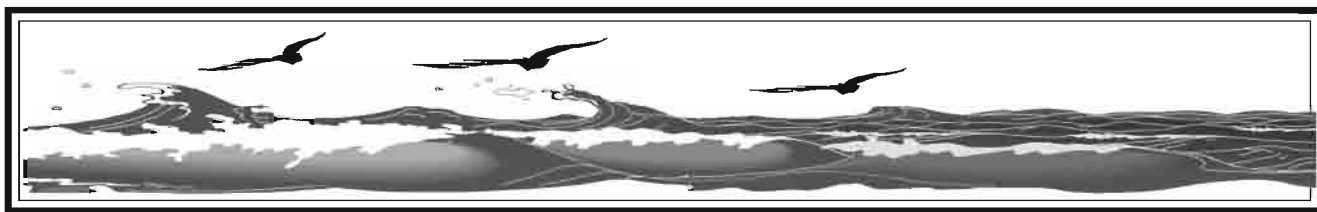
माँ सारदा के उपदेश

श्रीरामकृष्ण का दुनिया के सभी लोगों के प्रति मातृभाव था। उसी मातृभाव का प्रचार करने हेतु वे मुझे छोड़ गए हैं।

ठाकुर इस बार धनी-निर्धन, विद्वान्-मूर्ख – सभी का उद्धार करने आए हैं। मलय-पवन जोरों से प्रवाहित हो रहा है। जो कोई अपना पाल थोड़ा-सा भी उठायेगा और ठाकुर के प्रति शरणागत होगा, वह धन्य हो जाएगा। इस बार बाँस और घास को छोड़कर, जिस किसी में जरा भी सार तत्त्व है, वही चन्दन में रूपान्तरित हो जाएगा।

ईश्वर की इच्छा के बिना तिनका तक नहीं हिलता। जीव का जब अच्छा समय आता है, तब वह ईश्वर के स्मरण-मनन में प्रवृत्त होता है; बुरे समय में वह बुराइयों तथा कुसंग में प्रवृत्त होता है। उनकी जैसी इच्छा होती है, वैसे ही लोग यथासमय आते हैं। नरेन (स्वामी विवेकानन्द) में क्या क्षमता थी कि वह इतना सब कार्य कर सकता? ईश्वर ने उसके माध्यम से कार्य किया, इसलिए वह इतना सब करने में सफल हुआ। ठाकुर जो करेंगे, वह उनका तय किया हुआ है। फिर भी यदि कोई उनके चरणों में अपने आप को पूरी तरह समर्पित कर दे, तो वे उसकी सारी चिन्ताओं को दूर कर देंगे। मनुष्य को सब कुछ सहन करना चाहिए, क्योंकि अपने कर्म के अनुसार ही (सुख-दु:ख-रूपी) फल मिलता है। फिर कर्म के द्वारा कर्म का खण्डन भी होता है। अगर तुम सत्कर्म करोगे, तो उससे तुम्हारा पाप कट जाएगा। ध्यान, जप तथा ईश्वर-चिन्तन से पाप कटते हैं।

काम तो करोगे ही, काम करने से मन अच्छा रहता है। पर जप, ध्यान, प्रार्थना की भी विशेष जरूरत है। कम-से-कम सुबह-शाम एक-एक बार तो जप-ध्यान करने बैठना ही चाहिए। वह मानो नौका की पतवार के समान है। शाम को प्रार्थना के लिए बैठने से दिन भर भला-बुरा क्या किया, क्या नहीं किया – इसका विचार आता है। फिर पिछले दिन की मानसिक अवस्था के साथ आज की मानसिक अवस्था की तुलना करनी चाहिए। जप करते-करते इष्टदेव की मूर्ति का ध्यान भी करना चाहिए। ध्यान करते समय पहले इष्टदेव का मुख ही दिखाई पड़ता है, किन्तु इष्टदेव के चरणों से लेकर सिर तक – पूरे विग्रह का ध्यान करने का प्रयास करना चाहिए। काम-काज के साथ-साथ यदि सुबह-शाम जप-ध्यान नहीं करोगे, तो यह कैसे समझोगे कि उचित दिशा में जा रहे हो, या अनुचित दिशा में?

कर्म से ही सुख-दु:ख होता है। ठाकुर को भी कर्मफल भोगना पड़ा था। ठाकुर के बड़े भाई बीमारी के समय पानी पी रहे थे। थोड़ा-सा पीते ही ठाकुर ने उनके हाथ से गिलास को खींच लिया। इससे वे नाराज होकर बोले, "तूने मुझे पानी पीने नहीं दिया; तू भी इसी तरह कष्ट पाएगा, तेरे गले में भी ऐसे ही तकलीफ होगी।" ठाकुर ने कहा, "भैया, मैंने तो आपका कोई बुरा नहीं किया। आप बीमार हैं, पानी पीने से आपका रोग बढ़ जायेगा, इसलिए नहीं पीने दिया। तुमने मुझे इस प्रकार शाप क्यों दिया?" इस पर बड़े भाई रोते हुए बोले, "क्या पता भाई, न जाने कैसे मेरे मुख से यह बात निकल गई। अब यह विफल तो होगी नहीं।" बीमारी के समय ठाकुर ने मुझे बताया, "उनके शाप के कारण मेरे गले में यह घाव हुआ है। तुम लोगों में से किसी को कुछ नहीं होगा; यह कष्ट मुझे ही हुआ।" मैंने कहा, "जब आपका यह हाल है, तो ऐसे में आम आदमी का क्या होगा?" उन्होंने कहा, "वह भला आदमी था; वाक्सिद्ध था। जिस-तिस के बोल देने से थोड़े ही ऐसा होता है।"

कर्मफल तो भोगना ही होगा, परन्तु ईश्वर का नाम लेने से जहाँ भाला लगनेवाला था, वहाँ केवल सुई ही चुभेगी। जप-तप करने से कर्म का काफी-कुछ खण्डन हो जाता है।

कोई अगर तुमसे कठोर वचन कह भी दे, तो उल्टा जवाब मत करो। संसार में कितने ही तरह के लोग रहते हैं। सब सहते हुए रहना चाहिए। ठाकुर कहते – "श, ष, स – वर्णमाला में ये तीन 'स' हैं। जो सहता है, वही रहता है।"

मनुष्य के मन पर आघात देकर क्या कोई बात बोलनी चाहिए? सत्य बात को भी अप्रिय रूप से नहीं बोलना चाहिए। ऐसा करते रहने से स्वभाव बिगड़ जाता है।

जब तुम एक स्थान से दूसरे स्थान जाओ, तो आस-पास की बातों को अच्छी तरह से देख-सुन लो और जहाँ तुम रहते हो, वहाँ होनेवाली घटनाओं की अच्छी जानकारी रखो; परन्तु अपना मुख बन्द रखो।

सब कुछ मन से ही है। मन से ही शुद्ध है और मन से ही अशुद्ध। मनुष्य पहले अपने मन को दोषी बनाता है, तब दूसरों के दोष देखता है। दूसरों का दोष देखने से उनका क्या होगा? अपना ही नुकसान होगा। बचपन से ही मेरा यह स्वभाव है कि मैं किसी के दोष नहीं देख पाती। मेरे लिए कोई यदि थोड़ा-सा भी कुछ करता है, तो मैं उसे उतने के लिए ही याद रखने की चेष्टा करती हूँ। मनुष्य का दोष देखना – मैंने नहीं सीखा। ❑❑❑

बलिदान की परम्परा

रामेश्वर टांटिया

(लेखक १५ वर्ष की अवस्था में जीवन-संघर्ष के लिये जन्मभूमि त्यागकर कलकत्ता आये। कोलकाता की एक अंग्रेजी फर्म जे. टॉमस कम्पनी में साधारण हैसियत से काम शुरू किया। बाद में क्रमश: उन्नति करते हुए मुम्बई, असम और कोलकाता में विभिन्न उद्योग स्थापित किये। १९५७ ई. में लोकसभा के सदस्य निर्वाचित हुए और १९६६ ई. तक संसद सदस्य रहे। पाँच बार कांग्रेस पार्टी के कोषाध्यक्ष भी हुए। १९६८-७० ई. में आप कानपुर के मेयर थे। आप सुप्रसिद्ध 'ब्रिटिश इण्डिया कॉरपोरेशन' के प्रबन्ध निदेशक भी थे। आपने १९५०, १९६१, १९६४ ई. में तीन बार विदेश-यात्राएँ की। व्यवसायी तथा उद्योगपति होते हुये भी अत्यन्त सहृदय, साहित्यानुरागी तथा समाजसेवी थे। आपने अनेक ग्रन्थों की रचना की। प्रस्तुत है 'रामेश्वर टांटिया समग्र' ग्रन्थ के कुछ अंश। – सं.)

राजस्थान की भूमि वीर-प्रसविनी कहलाती है। चित्तौड़ का यश तो सर्वविदित है। भूतपूर्व जोधपुर रियासत में अनेक वीर पैदा होते रहे हैं, जिनकी गाथाएँ उन क्षेत्रों के चारण गद्‌गद होकर आज भी गाते हैं। बाबा रामदेव, वीर दुर्गादास और प्रणवीर बापूजी राठौड़ का नाम आज भी अमर है। सन् १९६२ ई. में मेजर शैतान सिंह चीनी आक्रमण-कारियों से बहुत बहादुरी के साथ देश की रक्षा करते हुए शहीद हो गये थे। उसी मरुधारा की 'ढाणियों' की एक छोटी-सी राजपूत-बस्ती, वीरपुरी में एक साधारण परिवार है, जहाँ की यह परम्परा चली आ रही है कि प्रत्येक पुरुष तीस-बत्तीस वर्ष की उम्र पाने से पूर्व ही किसी-न-किसी युद्ध में वीरगति प्राप्त कर लेता है।

इस परिवार को जोधपुर रियासत से सिरोपाव, सोना और नगारे की इज्जत मिली हुई थी। यहाँ तक कि दरबार में जाने पर महाराजा स्वयं खड़े होकर परिवार के सरदार का स्वागत करते थे। कहा जाता है कि इनके पूर्वजों में कई ऐसे अद्‌भुत जुझार पैदा हुए जो सिर कट जाने के पश्चात् भी काफी देर तक हाथ में तलवार लिये युद्ध करते रहे। इसी घराने के ठाकुर हीर सिंह ने प्रथम महायुद्ध में, फ्रांस की रणभूमि में जर्मनों के छक्के छुड़ा दिये थे। स्वयं घायल होकर भी एक दूसरे घायल सिपाही को कन्धे पर डालकर ले जाते हुए, उसको सुरक्षित स्थान पर पहुँचाते समय दुश्मन की गोलियों से उनका प्राणान्त हो गया।

ठाकुर हीर सिंह की मृत्यु का समाचार, उनकी विधवा माँ और पत्नी को मिला तो शोकाकुल माता ने सर्वप्रथम यह बात पूछी कि मेरे पुत्र के शरीर में गोली किस जगह पर लगी, यद्यपि उसको यह पता चल गया था कि किस प्रकार वह जर्मन सिपाहियों को मौत के घाट उतारता रहा और अन्त में घायल साथी के प्राण बचाते हुए धोखे से मारा गया, फिर भी वह अपने शेष जीवन में इसी सन्ताप से ग्रस्त रही कि उसका पुत्र पीठ में लगी गोली से मारा गया, जो उस परिवार के लिये कलंक था।

विधवा-माँ और पत्नी – मृत ठाकुर के मासूम बच्चे पर सारी आशायें केन्द्रित कर उसे वीरता-भरी कहानियाँ सुनाया करती थीं। जब उसकी आयु तेईस-चौबीस वर्ष की हुई, तो द्वितीय महा-विश्वयुद्ध प्रारम्भ हो चुका था। जोधपुर नरेश के बुलाने पर युवक भूर सिंह परिवार की परम्परा के अनुसार दादी, माता और पत्नी के पास विदा लेने गया। विदा करते हुए माँ ने कहा, "बेटा, मुझे एक सन्ताप आज भी खाए जा रहा है, यद्यपि तेरे स्वर्गीय पिता को यथेष्ट यश मिला था, किन्तु उनकी मृत्यु पीठ पर गोली लगने से हुई। अत: यह ध्यान रखना कि इसकी पुनरावृत्ति न हो। पित्रेश्वरों के आशीर्वाद से तुम्हें विजयश्री प्राप्त हो, मेरी कोख व परिवार के नाम को उज्ज्वल करना।"

युवक भूर सिंह ने अपने पिता से भी ज्यादा यश प्राप्त किया। सैकड़ों दुश्मनों को इटली के रणक्षेत्र में मौत के घाट उतार कर वह वीरगति को प्राप्त हुआ। उसकी गोलियों से छलनी हुई लाश को शत्रु-सेना के अफसरों ने भी श्रद्धा के साथ मस्तक झुकाकर सलामी दी और सम्मान-पूर्वक उसे दफना दिया गया।

भूर सिंह जब घर से चला था, तो पत्नी गर्भवती थी। उसकी मृत्यु के समय बालक पुत्र की आयु केवल दो वर्ष की थी। सरकारी पेंशन से किसी प्रकार घर का निर्वाह होता रहा। वैसे उनकी थोड़ी-सी जमीन भी थी, किन्तु खेती को देखने-वाला परिवार में कोई पुरुष सदस्य नहीं था, अत: जो कुछ बँटाई से प्राप्त होता, उससे गुजारे में मदद मिल जाती थी।

बचपन से ही बालक बड़ा हृष्ट-पुष्ट था, इसलिये उसका नाम रखा गया जोरावर सिंह। दस साल की उम्र में जोरावर सिंह में इतनी ताकत और हिम्मत थी कि स्कूल में अपने से दुगुनी उम्र के लड़कों को पछाड़ दिया करता था, फलत: आसपास के गाँवों में उसके बल के बारे में कई प्रकार की किंवदन्तियाँ प्रचलित हो गयी। उन बातों को सुनकर विधवा माँ का हृदय सदैव भयभीत रहता था। वह पुत्र को सैनिक स्कूल में भर्ती न करवाकर घर पर ही दूसरे प्रकार की शिक्षा

दिलाना चाहती थी। परन्तु जोरावर सिंह माँ से बिना कुछ कहे, एक दिन छुपकर घर से चल दिया और सैनिक-स्कूल में भर्ती हो गया। स्कूल से उसने अपनी विधवा माँ को पत्र लिखा, "यद्यपि देश स्वतंत्र हो गया है, पर हमारी उत्तरी सीमा पर दुश्मन चढ़ आया है। इस हालत में भारत-माता को किसी भी समय वीरों के बलिदान की आवश्यकता हो सकती है और यदि उसमें सर्वप्रथम हमारे परिवार का योग न रहा, तो आपकी कोख से मेरा जन्म लेना ही व्यर्थ होगा।" पत्र पढ़ते समय माँ की दाहिनी आँख फड़क रही थी, फिर भी उसने आशीर्वाद सहित जोरावर को सैनिक शिक्षा की मंजूरी दे दी। प्रबल इच्छा थी कि उसे लड़ाई में जाने का अवसर मिले, परन्तु यह इच्छा पूर्ण हो, इसके पहले ही युद्ध विराम हो गया।

कुछ अर्से बाद पाकिस्तान ने हमारे देश पर हमला किया। काश्मीर, पंजाब तथा राजस्थान के बाड़मेर की सीमाओं पर हमलावरों को रोकने के लिये जिन फौजों को भेजा गया था, उनमें एक टुकड़ी का नायक था युवक जोरावर सिंह। मोर्चे पर जाने से पूर्व वह माँ से मिलने अपने गाँव आया।

विदा के समय माँ को 'असगुन' हो रहे थे। बहुत यत्न करने पर भी वह अपने आँसू न रोक सकी। उसने अपने पुत्र को छाती से लगाकर आशीर्वाद दिया और इतना ही कहा, "बेटा! मुझसे बड़ी तुम्हारी भारत-माँ है, उस पर आज दुश्मनों ने हमला किया है। कुलदेवता तुम्हें विजयी बनायेंगे, परन्तु याद रखना, अगर युद्ध में वीरगति प्राप्त हो, तो दुश्मन की गोली पीठ में न लगे।"

मरुभूमि-बाड़मेर के सूने इलाके में सिर्फ सात अन्य जवानों के साथ इस बहादुर रण-बाँकुरे को एक सीमा चौकी की रक्षा का भार सौंपा गया। युद्ध का अधिक जोर कश्मीर और पंजाब की सीमा पर ही था, अत: राजस्थान के इस वीरान इलाके में थोड़े-से सिपाहियों को साधारण हथियार तथा गोलियाँ देकर ही तैनात कर दिया गया था।

सितम्बर के दूसरे सप्ताह में एक दिन अचानक ही इस चौकी पर सत्तर-अस्सी पाकिस्तानी सिपाहियों ने गोला-बारूद और हथियारों से लैस होकर हमला बोल दिया। दुश्मन के बहुत-से सिपाही मौत के घाट उतार दिये गए, पर इस ओर भी केवल तीन ही जवान शेष बचे। वे बुरी तरह घायल हो चुके थे तथा उनकी गोलियाँ भी समाप्त हो गई थीं।

जोरावर सिंह घायल अवस्था में ही दो बार मरे हुए दुश्मनों के पास जाकर उनके हथियार तथा गोला-बारूद लाने में सफल हुआ, परन्तु तीसरी बार आगे बढ़ते ही सामने से शत्रु-दल ने उस पर एक साथ गोलियों की बौछार शुरू कर दी और वह बेहोश होकर गिर गया। कुछ समय पश्चात् हमारी दूसरी चौकी के सिपाही वहाँ पहुँच गये और उनको देखकर बुजदिल पाकिस्तानी हमलावर भाग गए। इस समय तक जोरावर सिंह को भी कुछ होश आ चुका था, परन्तु उसके शरीर से इतना खून निकल गया था कि वह अन्तिम साँसें ले रहा था।

मरते समय उसने अपने साथियों से कहा, "गोलियाँ सीने में लगी हैं। ... अगर सम्भव हो तो मेरी लाश को मेरे गाँव भेज देना, क्योंकि मेरी माँ ने कहा था...। मैं चाहता हूँ कि मेरी माँ देखे कि मैंने कुल की परम्परा का पूर्णतया पालन किया है...।" इतना कहने के पश्चात उसका शरीर शान्त हो गया। पास में खड़े उसके साथी सिपाहियों ने देश के प्रति कुर्बान हुए उस शहीद को सैनिक सलामी दी। ❑❑❑

बढ़ते जाना ओ साथी

भानुदत्त त्रिपाठी 'मधुरेश'

सदा सुपथ पर बढ़ते जाना, ओ साथी !
सदा सुमति की ज्योति जगाना, ओ साथी !!

चाहे पथ पर अड़ी हुई हों बहु बाधायें,
रोकें राह भले ही आ अनगिन झंझायें।

चाहे बरसें प्रलयकाल की घोर घटायें,
मित्र भले ही तुमसे अपना हाथ छुड़ायें।

किन्तु न पीछे पैर हटाना, ओ साथी !
सदा सुपथ पर बढ़ते जाना, ओ साथी !!

जिसने जीवन का रहस्य सचमुच पहचाना,
दीपक-सम जलने का ही जिसने व्रत ठाना।

क्षर-अक्षर का मर्म सर्वथा जिसने जाना,
जिसने जग में परम तत्त्व को ही सन्धाना।

उसको नहीं पड़ा पछताना, ओ साथी ।।
सदा पुपथ पर बढ़ते जाना, ओ साथी !!

जीवन – आत्मा के प्रवाह की ऐसी धारा,
एक किनारा जन्म, मरण है अपर किनारा।

जड़ चेतन सब परम शक्ति का स्थूल पसारा,
जिसने इसको, नहीं विचारा, वह बेचारा।

कभी स्वयं को भूल न जाना, ओ साथी !
सदा सुपथ पर बढ़ते जाना, ओर साथी !!

स्वामी विमलानन्द (३)

स्वामी अब्जजानन्द

(स्वामी विवेकानन्द के अल्पावधि जीवन-काल में अनेक नर-नारी उनके घनिष्ठ सम्पर्क में आये। कुछ युवकों ने उन्हीं चरणचिह्नों पर चलते हुए त्याग-संन्यास का जीवन भी अंगीकार किया था। प्रस्तुत है स्वामीजी के उन्हीं संन्यासी शिष्यों में से कुछ की जीवन-गाथा। बँगला भाषा से इसका हिन्दी अनुवाद किया है स्वामी विदेहात्मानन्द ने। अनुवाद में कहीं-कहीं अंग्रेजी संस्करण से भी सहायता ली गयी है। – सं.)

१९०१ ई. की सर्दियों में विमलाननन्द अपने गुरुभाई स्वरूपानन्द के साथ हिमालय से उतरे और इलाहाबाद आकर धर्म-प्रचार हेतु कुछ काल वहीं निवास किया था। यहाँ पर उन्होंने अंग्रेजी भाषा में वेदान्त पर दो व्याख्यान दिये थे; और सम्भवत: ये ही उनके प्रारम्भिक व्याख्यान थे। इन दोनों वक्तृताओं के माध्यम से उनका विशद ज्ञान व्यक्त हो उठा था और उनकी सहज प्रस्तुति से उपस्थित श्रोतागण मंत्रमुग्ध हो उठे थे। वस्तुत: इलाहाबाद की जनता उनकी विद्वत्ता एवं साधुता पर इतनी आकर्षित हो गयी थी कि उन लोगों ने उनसे हार्दिक अनुरोध किया कि वे वहाँ रामकृष्ण मिशन का एक स्थायी प्रचार-केन्द्र स्थापित करें। परन्तु इलाहाबाद में विमलानन्द का स्वास्थ्य फिर बिगड़ने लगा था, अत: जाड़े का मौसम समाप्त होते ही वे मायावती लौट गये। उनके प्रिय गुरुभाई कल्याणानन्द द्वारा तब तक कनखल में एक सेवाश्रम की स्थापना हो चुकी थी। स्वामीजी के आदेश को शिरोधार्य करके ही इस सेवाश्रम का श्रीगणेश किया गया था, अत: विमलानन्द का भी इसके प्रति खूब लगाव था। इसी कारण 'प्रबुद्ध भारत' के विभिन्न अंकों में उन्होंने सेवाश्रम की सहायता के लिये एक खूब विचारपूर्ण अपील लिखा था।

मायावती में भी विमलानन्द के स्वास्थ्य में कोई सुधार परिलक्षित नहीं हुआ, बल्कि उसमें क्रमश: गिरावट ही दृष्टिगोचर हो रहा था। विशेषज्ञों के परामर्श पर आखिरकार बाध्य होकर वे मायावती का सारा कार्यभार छोड़कर बेलूड़ मठ आये और वहाँ से वाल्टेयर चले गये। इस आशा में कि समुद्र-तट की जलवायु उनके शरीर के लिये अनुकूल हो सकती है, उन्होंने कुछ काल वाल्टेयर में बिताया और बाद में मद्रास चले गये। मद्रास मठ में स्वामी रामकृष्णानन्दजी के पुनीत सान्निध्य तथा स्नेह-यत्न के फलस्वरूप उन्हें यथेष्ट मानसिक आनन्द की प्राप्ति होने के बावजूद उनके स्वास्थ्य में कोई सुधार नहीं हुआ। अस्तु। चिकित्सा, औषधि तथा पथ्य आदि की सुव्यवस्था हुई और उन्होंने मद्रास में कई महीने विश्राम किया। उधर बैंगलोर में भी मिशन का कार्य काफी प्रगति कर रहा था – विमलानन्द के बाल्य-बन्धु स्वामी आत्मानन्द (शुकुल महाराज) उन दिनों उसी केन्द्र के अध्यक्ष थे। अति परिश्रम के कारण उन दिनों आत्मानन्द का स्वास्थ्य भी टूट रहा था। प्रिय मित्र तथा गुरुभाई के बिगड़ते स्वास्थ्य के समाचार ने विमलानन्द को विचलित कर डाला। वे अपनी अस्वस्थता की बात भूलकर आत्मानन्द के कार्य में सहायता करने बैंगलोर दौड़ पड़े। उन्होंने बैंगलोर में निवास करते हुए आत्मानन्द की हर प्रकार से सहायता की और नगर के विभिन्न स्थानों में धर्मचर्चा तथा सभा आदि करके वेदान्त-प्रचार में जुट गये। विमलानन्द को पाकर आत्मानन्द को थोड़ा विश्राम तो अवश्य मिला, परन्तु अपने शरीर की अवहेलना करने के कारण विमलानन्द का स्वास्थ्य फिर से काफी बिगड़ गया। अत: वे अपने रुग्ण शरीर के साथ पुन: मद्रास आने को बाध्य हुए।

मद्रास में इस बार खूब कठोर विधि-निषेध मानकर चलने और चिकित्सकों के निर्देशानुसार दवा, पथ्य आदि का नियमित रूप से सेवन करने के फलस्वरूप विमलानन्द थोड़े स्वस्थ हो उठे थे। परन्तु उस समय मद्रास में बैठे हुए ही उन्हें एक प्रचण्ड शोक सहना पड़ा – स्वामी स्वरूपानन्द ने नैनीताल में देहत्याग कर दिया था। १९०६ ई. का वर्ष था। अन्तरंग गुरुभाई के सहसा वियोग से विमलानन्द सहसा हताश हो गये, परन्तु अपने प्रबल आत्मविश्वास तथा भगवत्-भक्ति के गुण से उन्होंने शीघ्र ही स्वयं को सँभाल लिया। इस प्रसंग में 'विश्वास' विषयक विमलानन्द के विचार सचमुच ही स्मरणीय हैं। ये विचार इतने मौलिक तथा शक्तिदायी हैं कि उनका उल्लेख अपरिहार्य है। उनकी उक्ति है –

"विश्वास भावुकता का एक आकस्मिक उच्छ्वास या बुद्धिमत्ता की कोई चकाचौंध भरी अभिव्यक्ति नहीं है। जीवन की कठिन परिस्थितियों के सम्मुख वे सब कपूर की भाँति हवा में विलीन हो जाती हैं। सच्चा विश्वास अन्तर के गहनतम प्रदेश में अटल शक्ति के रूप में स्थित रहता है। यह सुदीर्घ काल की नीति-निष्ठा का फल है। जगत् की परिवर्तनशील घटनाओं के बीच भी विश्वासी के प्रत्येक विचार तथा कार्य से वह प्रकट होता रहता है। अन्तर्दृष्टि के बल पर परमार्थ सद्वस्तु (ब्रह्म) के साथ जिस अविच्छेद्य सम्बन्ध का अनुभव होता है, वही सच्चा विश्वास है। मन-वाणी से अगोचर ब्रह्म-सत्ता में जिसका जितना विश्वास है, उसके

जीवन का मूल्य भी ठीक उतना ही है। जिसका जैसा विश्वास है, उसके जीवन की गति भी ठीक वैसी ही है। विश्वास के बल पर सचमुच असम्भव भी सम्भव हो जाता है।''[१] सचमुच ही विमलानन्द के जीवन में यही 'विश्वास' मूर्त रूप में दिखाई देता है।

मद्रास से विमलानन्द थोड़े बेहतर स्वास्थ्य के साथ बेलूड़ लौटे – यही उनका अन्तिम मठ-वास था। इसी बीच वेदान्त-प्रचारक के रूप में विदेश भेजने के लिये अमेरिका के न्यूयार्क तथा सैन फ्रांसिस्को से बारम्बार अनुरोध आने लगा। परन्तु इस जीर्ण स्वास्थ्य के साथ वैसा गुरु दायित्व का वहन असम्भव जानकर वे अमेरिका जाने को राजी नहीं हुए। अस्तु, मठ में रहते हुए भी उन्होंने मठवासी साधुओं के विभिन्न कार्यों में सहायता करना नहीं छोड़ा। स्वास्थ्य भी थोड़ा-थोड़ा ठीक ही चल रहा था। १९०६ ई. की सर्दियों में मदर सेवियर जब मठ में आयीं, तो वे विमलानन्द के स्वास्थ्य को देखकर प्रसन्न हुईं और उन्हें अपने साथ पुन: मायावती ले जाने का संकल्प किया। इस बार मठ में निवास के दौरान उन्होंने दो-चार जगह धर्मचर्चा में भी भाग लिया था। 'बेहाला हितकारी सभा' में प्रदत्त उनका अंग्रेजी व्याख्यान विशेष प्रशंसित हुआ था। पूर्वाश्रम आन्दूल में आयोजित श्रीरामकृष्ण जन्मोत्सव में भी वे बेलूड़ मठ के संन्यासी-मण्डली के साथ सम्मिलित हुए। उन्होंने अपने घर में माता-पिता का दर्शन करके खूब आनन्द भी व्यक्त किया।

१९०७ ई. के अप्रैल में विमलानन्द हिमालय के आकर्षण से पुन: मायावती के अद्वैत आश्रम के कर्मी होकर चले आये। उन दिनों स्वामी विरजानन्द वहाँ के अध्यक्ष थे। उक्त आश्रम से स्वामीजी की अंग्रेजी ग्रन्थावली (Complete Works) के प्रकाशन का कार्य पूरे उद्यम के साथ चल रहा था। अपने स्वास्थ्य की बिल्कुल भी परवाह न करते हुए विमलानन्द ने स्वयं को पूरे उद्यम के साथ उस महान् कार्य में लगा दिया। उन्होंने अपने शुभ-चिन्तकों के अनुरोध को न मानकर कठोर परिश्रम करते हुए अपने स्वास्थ्य को सदा के लिये चौपट कर डाला। विमलानन्द अपने जीवन-देवता स्वामीजी के चरणों में तिल-तिल कर अपने जीवन की आहुति दे रहे थे। १९०७ ई. के अक्तूबर से विमलानन्द को थोड़ी-थोड़ी बुखार रहने लगी। आखिरकार १९०८ ई. की फरवरी में चिकित्सकों ने उनके शरीर में असाध्य क्षयरोग की पहचान की।

चिकित्सकों ने विमलानन्द को पूर्ण शारीरिक तथा मानसिक विश्राम लेने की सलाह दी। आश्रमाध्यक्ष स्वामी विरजानन्द अपने अन्तरंग गुरुभ्राता के कष्ट से अत्यन्त विचलित हो उठे और स्वयं ही उनकी चिकित्सा, दवा तथा सेवा आदि की व्यवस्था करने लगे। परन्तु विमलानन्द छोटे-मोटे अनेक कार्य अपने ही हाथों से करते और यथासाध्य दूसरों की भी सहायता करते। दूसरों द्वारा ऐसा न किया जाने का अनुरोध किये जाने पर वे करुण कण्ठ से कहते – ''जब यह निश्चित हो चुका है कि मेरा स्वास्थ्य अब सुधरने वाला नहीं है, तो फिर क्यों न तुम लोगों की अपनी सामर्थ्य के अनुसार सहायता न करूँ?'' ऐसा करने से मुझे निश्चय ही मन का सन्तोष तथा आनन्द प्राप्त होगा। तो फिर तुम इसमें बाधा क्यों डालते हो?'' हृदयवान संन्यासी के इस अपूर्व विचार तथा सेवा के अनुपम आदर्श पर सभी लोग श्रद्धा तथा विस्मय से मौन रह गये। दीर्घ काल तक रोग से पीड़ा भोगते समय भी किसी ने क्षण भर के लिये भी उनका मुख म्लान होते नहीं देखा – उनके विचारों या बातों में शिकायत या नाराजगी का लेशमात्र भी नहीं दिखाई पड़ा। सहनशीलता का ज्वलन्त आदर्श व्यक्त करते हुए विमलानन्द ने हँसते हुए रोग-पीड़ा को सहन किया। वे प्रति क्षण अपने गुरुदेव के अभय करस्पर्श का अनुभव करते रहते। उन्हें दृढ़ बोध था कि रोग-शोक आदि सब देह का है और वे स्वयं अनन्त आनन्दस्वरूप आत्मा हैं। यह बात वे निश्चित रूप से समझ गये थे कि शरीर का विनाश-काल आ पहुँचा है, तथापि उन्होंने बिन्दु मात्र भी उद्विग्नता नहीं दिखाई। देहत्याग के केवल एक सप्ताह पूर्व वे सहसा बोले, ''अब अधिक विलम्ब नहीं है। परन्तु मेरा शरीर सुबह के समय जायेगा, रात में नहीं।'' एक दिन उन्होंने आश्रम के सभी साधु-ब्रह्मचारियों को कुछ खिलाने की इच्छा व्यक्त की। इसके बाद बिस्तर पर पड़े हुए ही एक दिन उन्होंने एक ब्रह्मचारी के द्वारा अपनी इच्छानुसार दो-एक प्रकार के खाद्य पदार्थ बनवाकर साधुसेवा करायी। उस दिन उनके नेत्रों तथा मुखमण्डल पर कितने आनन्द और तृप्ति का भाव खिल उठा था!

समुचित सेवा-यत्न तथा चिकित्सा से विमलानन्द का ज्वर क्रमश: उतर गया, परन्तु उनका शरीर अत्यन्त दुर्बल हो गया था। अपने परम आराध्य श्रीगुरुदेव से नित्य-मिलन के आनन्द की आशा में उन्हें उत्तरोत्तर आरोग्य का बोध हो रहा था। उस दिन किसी को भी नहीं लगता था कि उनके शरीर में दुर्बलता के अतिरिक्त कोई रोग भी है! २३ जुलाई (१९०८) को रात में दो बजे तक इसी प्रकार चला – उन्होंने यथानियम दवा तथा दूध ग्रहण किया। रात को चार बजे से उन्हें लगने लगा कि वे निद्राच्छन्न हो रहे हैं – मानो महानिद्रा ही नि:शब्द पदचाप के साथ उनके नेत्रों में उतरी आ रही थी। बीच-बीच में वे दोनों नेत्र खोलते – एक अद्भुत प्रशान्ति तथा चमक से उनका मुख-मण्डल अधिकाधिक दीप्त होता जा रहा था। सुबह छह बजे के करीब अस्फुट स्वर में तीन बार ''ॐ ॐ ॐ'' का उच्चारण करके विमलानन्द अनन्त

१. प्रबुद्ध भारत (अंग्रेजी मासिक), अप्रैल १९००

काल के लिये स्व-स्वरूप में विलीन हो गये। शय्या के पास बैठे स्वामी विरजानन्द अपने प्रियतम गुरुभ्राता तथा आबाल-संगी की महायात्रा के समय एक बार और उन्हें पुकारा, परन्तु कोई उत्तर नहीं मिला। विमलानन्द चिर काल के लिये नीरव हो चुके थे। यति विमलानन्द ने अपना पंचभौतिक देह छोड़कर अनन्त जीवन प्राप्त किया। मायावती आश्रम के नीचे बहनेवाली दो पर्वती नदियों के संगम की तटभूमि पर उनका शरीर अग्नि को सौंप दिया गया। हिमालय की इस प्रयाग-भूमि में प्रज्वलित चिताग्नि के सम्मुख गुरुभाइयों ने वेदमंत्रों का उच्चारण करते हुए विमलानन्द की परम-धाम के लिये यात्रा-पथ को मधुमय कर दिया था।

विवेकानन्द-शिष्य विमलानन्द का जीवन सभी प्रकार से अपने गुरुदेव का अनुगामी था। वह ज्ञान, भक्ति तथा कर्म के समन्वित आदर्श से गठित हुआ था; और यह अद्भुत समन्वयानुभूति उन्होंने अपने गुरुदेव के अलौकिक जीवन से ही प्राप्त की थी। स्वामीजी के विचार तथा सन्देश विमलानन्द की दृष्टि में कितने स्पष्ट रूप से आत्मसात् हुए थे, उन्हीं की दो-एक उक्तियों से इसकी अच्छी धारणा हो सकेगी। उनके द्वारा अनुभूत स्वामीजी का आदर्श इस प्रकार था – "This is the very core of Swamiji's teaching – the Self-hood of all – the divinity of man. And this is, I am fully convinced, the key to his wonderfully versatile nature. He was a lover of all because he was a jnani. And here I must tell you that the fatal illusion under which I had long laboured – that jnana and bhakti are destructive of each other – dispersed in the presence of Swamiji as darkness before the sun. Swamiji was a tremendous worker because he was a bhakta as well as a jnani. The tremendous energy that shook the whole world and is still at work awakening many a slumbering soul to its innate Divinity, instilling life into dead bones, bringing sunshine in the darkness of despair and love in dry, arid souls – this tremendous energy owes its origin to his realization of Brahman in all. Here, too, I must tell you that the fatally erroneous idea that karma is antagonistic to jnana and bhakti is dispelled at once by the life of Swamiji."[२] अर्थात् "स्वामीजी के उपदेशों का यही केन्द्र-बिन्दु है – सभी का मूल रूप से आत्मा होना – मनुष्य की दिव्यता। मेरा पूरा विश्वास है कि उनके अत्यद्भुत बहुमुखी स्वभाव का यही रहस्य है। वे ज्ञानी थे, इसीलिये सबसे प्रेम करते थे। यहाँ मैं आपको यह भी बता देना चाहूँगा कि दीर्घ काल तक मैं इस घातक भ्रान्ति का शिकार था कि ज्ञान तथा कर्म एक दूसरे के विनाशक हैं और यह स्वामीजी की उपस्थिति में उसी प्रकार दूर हो गया जैसे सूर्य के सामने अँधेरा दूर हो जाता है। स्वामीजी एक भक्त तथा ज्ञानी थे और इसीलिये एक महान् कर्मी थे। जिस प्रचण्ड ऊर्जा ने सारे जगत् को हिलाकर रख दिया था और जो अब भी क्रियाशील रहकर असंख्य सोयी हुई आत्माओं को उनकी अन्तर्निहित दिव्यता के प्रति सचेत कर रही है, मरी हुई अस्थियों में जीवन का संचार कर रही हैं, निराशा के अँधियारे में आशा की रवि-रश्मियाँ फैला रही हैं तथा शुष्क आत्माओं में प्रेम का संचार कर रही है – यह प्रचण्ड ऊर्जा उनकी सभी जीवों में ब्रह्म-दर्शन से उद्भूत हुई है। यह एक बड़ी भ्रान्त धारणा है कि कर्म, ज्ञान तथा भक्ति का विरोधी है। यहाँ भी आपको बता देना चाहूँगा कि स्वामीजी का जीवन देखते ही यह भ्रान्ति तत्काल दूर हो जाती है।"

स्वामीजी के आदर्श तथा उनके विचारों की इतनी प्रांजल व्याख्या प्रत्यक्ष अनुभव की भाषा द्वारा ही सम्भव है; और यही विमलानन्द के प्राणों की भाषा है। फिर उपर्युक्त कुछ उक्तियों को विमलानन्द की आत्मकथा भी कहा जा सकता है। स्वामीजी के इन प्रिय शिष्य की अल्पायु जीवन पर विचार करके देखने पर यह निश्चय ही एक समर्पित पुष्प के समान पवित्रता तथा प्रेरणा का प्रतीक प्रतीत होगा। व्यास-तुल्य स्वामी सारदानन्दजी ने इस शुद्ध-सुन्दर जीवन का स्मरण करते हुए 'उद्बोधन' पत्रिका में एक बार स्वयं लिखा था – "आराध्य देवता के श्री चरणों में चिर अनुरक्त शिष्य के द्वारा यह हृदय-रक्त का दान – यह प्रशंसा-स्वार्थ-रहित अयाचित प्रेमार्पण – यह लोकनेत्रों से दूर, अनाडम्बर नि:शब्द हृदय के पूजा की बात – हे मनुष्य, क्या तुम समझ सकोगे? इसे समझने की चेष्टा भी तुममें से भला कितने लोग करेंगे? इस जगत् में अधिकांश लोग मिथ्या सांसारिक विषयों को ही समझते हैं तथा उसी में योगदान करते हैं। विमलानन्द जैसे लोग वृथा उद्यम में देहपात् करते हैं, तो किया करें – आओ, हम लोग जो करते हैं, उसी में लगे रहें!" ❑❑❑

२. वेदान्त केसरी (अंग्रेजी मासिक), फरवरी १९२३
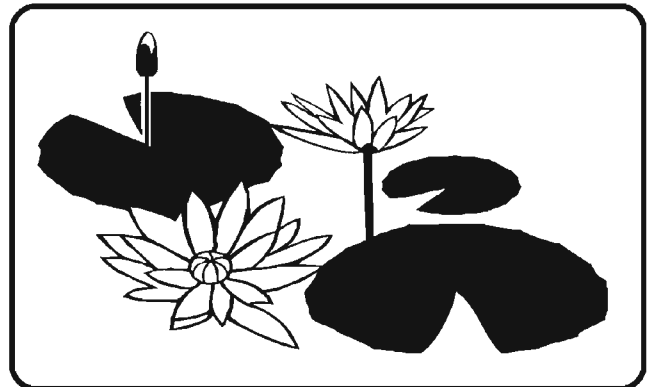
न मे भक्तः प्रणश्यति (७)

स्वामी सत्यरूपानन्द

(प्रस्तुत व्याख्यान स्वामी सत्यरूपानन्द जी महाराज ने सन् २००८ में कलकत्ता में अरुण चूड़ीवाल जी के आवासीय सभागृह में दिया था। इसका टेप से अनुलिखन रायपुर के श्री राजेन्द्र तिवारी जी ने और सम्पादन स्वामी प्रपत्त्यानन्द जी ने किया है।)

आइये, भगवान के द्वारा की गयी प्रतिज्ञा **न मे भक्तः प्रणश्यति** का एक अन्य उदाहरण हम अर्जुन के जीवन की एक घटना से समझने का प्रयत्न करें।

अभी आप-हम-सब समझ लें कि हम दुराचारी हैं। यद्यपि हममें से कोई दुराचारी नहीं है। संसार की दृष्टि में जो शराबी-कबाबी-व्यभिचारी हैं, उनको हम दुराचारी कहते हैं, किन्तु हम यह भूल जाते हैं कि दुश्चरित्र, व्यभिचारी, बेइमान से भी बढ़कर दुराचारी वह है, जो अहंकारी है। वह शरब नहीं पीता, व्यभिचार नहीं करता, बेइमानी नहीं करता, तथाकथित बड़ा आदमी है, अपना कर्तव्य पूरा करता है, सब कुछ करता है, किन्तु वह अहंकारी है। यह अहंकार भक्ति में सबसे बड़ी बाधा है। उसका मूर्तस्वरूप महाभारत में कर्ण है। वैसे तो यह बहुत बड़ा प्रसंग है। मैं तो कोहली जी की चरण-धूलि भी नहीं हूँ, इन्होंने महाभारत के प्रसंगों में बड़ी लम्बी कथा लिखी है। आप देंखे, दुर्योधन भी अहंकार का प्रतीक है। हमारे जीवन का सबसे बड़ा दुराचार यह है कि हम अपने अहंकार पर आश्रित हैं। और भक्त के जीवन की विशेषता यह होती है कि वह भगवान पर आश्रित होता है। उसका जीवन-सूत्र होता है – मैं नहीं तू। मैं कौन हूँ, सर्वत्र भगवान ही रक्षा करते हैं।

अर्जुन के ही जीवन की एक घटना देखें। महाभारत के युद्ध में अभिमन्यु का वध हो गया। अर्जुन दूसरी जगह युद्ध कर रहे थे। अर्जुन को दूर गया देखकर आचार्य द्रोण ने चक्रव्यूह की रचना की थी। अर्जुन को छोड़कर चक्रव्यूह-भेदन कोई जानता नहीं था। चक्रव्यूह का भेदन न हो तो पराजय स्वीकार करनी होगी। आप वह सब कथा जानते हैं। अभिमन्यु ने कहा था कि किस प्रकार जब मैं गर्भ में था, तब मेरे पिताजी ने मेरी माता को चक्रव्यूह के बारे में बताया था। कैसे चक्रव्यूह में प्रवेश करते हैं, यह तो मेरी माँ ने सुना, लेकिन जब पिताजी चक्रव्यूह से निकलने के बारे में बता रहे थे, तब मेरी माँ सो गई, तो चक्रव्यूह से कैसे निकलना है, यह मैं नहीं जान सका। अपने ताऊ से सब कुछ बताकर अभिमन्यु चक्रव्यूह में प्रविष्ट हुआ और वहाँ उसका वध हो गया। संध्या समय जब अर्जुन लौटे, तो उन्हें समाचार मिला कि आठ महारथियों ने मिलकर अभिमन्यु को मारा है, उनमें जयद्रथ प्रमुख था। वैसे महाभारत के टीकाकार नीलकण्ठ कहते हैं कि 'अर्जुन' शब्द का अर्थ होता है सरल, पर भगवान के अत्यन्त सन्निकट रहने के कारण वे अपने ऊपर बहुत विश्वास करते थे, और जिस समय हम अपने आप पर विश्वास करते हैं और ईश्वर को भूल जाते हैं, उसी का नाम अहंकार है। ईश्वर पर विश्वास है, इसलिए हम भक्त हैं। किन्तु जिन क्षणों में हम ईश्वर को भूलकर अपनी शक्ति पर विश्वास करते हैं – मैंने सब कुछ किया और मैं सब कुछ कर सकता हूँ, जब ऐसी वृत्ति आती है, तब वह अहंकार है। अभिमन्यु के अन्यायपूर्ण वध की बात सुनकर अर्जुन क्रोध में आ गये। प्रतिशोध की भावना उनके मन में जाग उठी। वे थोड़ी देर के लिए भूल गये कि एक बार कृष्ण से तो पूछ लूँ कि मुझे क्या करना चाहिए। किन्तु बिना कुछ पूछे, बिना कुछ सोचे, उन्होंने प्रतिज्ञा कर दी कि कल सूर्यास्त के पहले अगर मैंने जयद्रथ का वध न कर दिया, तो मैं स्वयं अग्नि में प्रवेश कर जाऊँगा। युद्ध में गुप्तचर लगे रहते हैं। गुप्तचरों ने कौरवों के शिविर में सूचना दी। दुर्योधन ने सबको बुलाया और योजना बनाई कि आज शाम तक सारी शक्ति जयद्रथ को बचाने में लगानी है। संध्या होगी और यदि अर्जुन जयद्रथ को मार नहीं सकेगा, तो वह स्वयं चिता में कूद कर मर जायेगा तथा विजयश्री हमारे हाथ में होगी। कौरव शिविर में सब बड़े उत्साहित और आनन्दित हैं। पाण्डवों के शिविर में लोगों को नींद नहीं आ रही है कि क्या करें। अर्जुन तो आराम से सो रहे हैं, पर बाकी भीम, युधिष्ठिर तथा और दूसरे सब सेनापति धृष्टद्युम्न आदि सोच रहे हैं कि क्या किया जाय, कैसे व्यूह बनायें। फिर दूसरे लोग भी सोचे कि चलो अब सुबह होगी तो देखेंगे। एक ही व्यक्ति उस पूरे पाण्डव-शिविर में ऐसा था, जो रात भर सोया नहीं और अपनी शैय्या पर बैठा है। वह कौन थे? वह थे भगवान श्रीकृष्ण। उनको इस बात की चिन्ता थी कि अर्जुन ने ऐसी कठिन प्रतिज्ञा कर ली है और कौरवों ने ऐसी जटिल योजना बनाई है कि इन्द्र भी अगर आ जायँ, तो जयद्रथ का वध होना कठिन है। सुबह होने पर शंख बजाकर युद्ध का प्रारम्भ करते थे तथा संध्या होने पर शंख बजाकर ही युद्ध को विराम देते थे। सुबह होने पर युद्ध प्रारम्भ हुआ। अब जयद्रथ को इन्होंने व्यूह बनाकर ऐसा सुरक्षित रखा था कि सचमुच उसे इन्द्र भी नहीं मार सकता था। भीषण युद्ध हो रहा है। सभी पाँचों पाण्डव, धृष्टद्युम्न आदि लगे हैं, पर संध्या होने को आई और जयद्रथ जो व्यूह में सुरक्षित है, ये लोग उसके पास तक नहीं पहुँचे हैं। कौरव बड़े हर्षित हैं कि अब अर्जुन चिता में भस्म हो जायेगा। भगवान अर्जुन के सारथी हैं और भगवान की

यह प्रतिज्ञा है – **प्रतिजानीहि कौन्तेय न मे भक्तः प्रणश्यति** – हे अर्जुन, ठीक से जान ले, यह मेरी प्रतिज्ञा है कि मेरे भक्त का नाश नहीं होगा। भगवान ने देखा कि संध्या होने को है और अर्जुन ने भी कहा कि अब चिता सजाओ। सभी पाण्डव दु:खी हो गये। संध्या होता देखकर जयद्रथ अट्टहास करते हुए आया। दुर्योधन आदि सब व्यंग्य करते हुये आए कि पार्थ, तुम तो दृढ़ प्रतिज्ञ हो, अब तुम अपनी प्रतिज्ञा पूर्ण करके दिखाओ। हम लोग ही चिता सजा देते हैं, तुम्हें कष्ट करने की आवश्यकता नहीं है। हम तुम्हारे लिए चन्दन की चिता सजा देते हैं और तुम इस चिता में जलकर भस्म हो जाओ। अर्जुन ने सिर झुका लिया। संध्या हो गई, मैंने प्रतिज्ञा की थी, अब मुझे जलकर भस्म हो जाना है। वह सोच ही रहा था कि अब यह गाण्डीव धनुष रख दूँ, रथ से उतर जाऊँ, तो भगवान कहते हैं, अरे ठहर, देख पश्चिम की ओर। पश्चिम के क्षितिज से बादल हट गया, सूर्य चमकने लगा और जयद्रथ सामने खड़ा था। भगवान ने अर्जुन को तुरन्त आज्ञा दी, देखता क्या है, जयद्रथ का सिर काट दे। तुरन्त जयद्रथ का वध करो। अर्जुन के लिए बहुत सहज बात थी, तुरन्त गाण्डीव पर बाण चढ़ा कर छोड़ दिया, अर्जुन के वाण का चूकने का तो प्रश्न ही नहीं था। किन्तु जयद्रथ को यह वरदान था कि उसका सिर कटकर जिस पर गिरेगा, उस व्यक्ति के सिर के सौ टुकड़े हो जायेंगे। भगवान कृष्ण ने अर्जुन से कहा कि तू इसका सिर तो एक बाण से काट दे, पर दूसरे बाण से इसके सिर को इतना दूर फेंक दो कि वह व्यक्ति जो तपस्या में बैठा है, उसकी गोद में जाकर गिरे। अर्जुन को यह ज्ञान नहीं था। भगवान कृष्ण की आज्ञा थी। उन्होंने उसका पालन किया। अर्जुन ने बाण से जयद्रथ का सिर काटा और दूसरे बाण से उसे ऐसा फेंका कि जाकर वह उसके पिता की गोद में गिरा, जो तपस्या में बैठे थे, उनके सिर के शतखण्ड हो गये। अब आप देखिये, भगवान कैसे अपने भक्त की रक्षा करते हैं – न मे भक्तः प्रणश्यति। यद्यपि अर्जुन ने भगवान की अवहेलना की थी, प्रतिज्ञा करते समय पूछा नहीं था, पर चूँकि अर्जुन भगवान कृष्ण के भक्त थे इसलिए भगवान ने उनकी रक्षा की।

आप हम अपने इसी जीवन के बीते हुए समय को देखें। कितनी ऐसी घटनायें हमको अपने जीवन में मिलेंगी जिसमें हमारा पुरुषार्थ शून्य है। आज हम स्वस्थ हैं, सबल हैं, अच्छी तरह लिख पढ़ सकते हैं, सम्पन्न हैं, कोई असुविधा नहीं है। विचार करके देखें, इसमें हमारा अपना पुरुषार्थ कितना है। अधिकांश क्षेत्रों में हम पायेंगे कि भगवान की कृपा न होती तो इस पुरुषार्थ के भरोसे हम कहीं के नहीं रह जाते। इसलिए हम भगवान की शरण लें, क्योंकि भक्त का कभी नाश नहीं होता – न मे भक्तः प्रणश्यति। यह तभी सम्भव होगा, जब हम भगवान पर निर्भर होने का पूर्ण प्रयत्न करेंगे। यह भक्ति का ही प्रसंग है। हमको भगवान के प्रति पूर्ण निर्भरता लानी पड़ेगी। निर्भरता कैसे लानी पड़ेगी? भागवत में ध्रुव और प्रह्लाद के चरित्र से हम सभी परिचित हैं। यद्यपि सकाम भक्ति भी व्यक्ति को ईश्वर की कृपा का अधिकारी बना देती है, किन्तु वस्तुतः भगवत्प्राप्ति के लिए निष्काम भक्ति की ही आवश्यकता है।

सौतेली माँ से अपमानित होकर ध्रुव वन में जाते हैं और तपस्या करके ध्रुवपद प्राप्त करते हैं। ध्रुव माने सत्य होता है। ध्रुव का अर्थ निश्चित भी होता है। ध्रुव शब्द का अर्थ संस्कृत में पूर्ण लक्ष्य प्राप्त करना भी होता है। ध्रुव को फल मिला, राज्य मिला, सब कुछ हुआ। दूसरे प्रह्लाद थे। प्रह्लाद के जीवन में कोई आकांक्षा नहीं थी। केवल यही आकांक्षा थी कि प्रभु के चरणों में भक्ति हो जाय। भगवान के चरणों में भक्ति के अतिरिक्त या प्रभु के अतिरिक्त जब और कोई चाह हमारे मन में न रहे, तब भगवान हमारे हृदय में प्रगट होंगे, प्रकाशित होंगे। आप सभी प्रायः गीता में सुनते रहते हैं। गीता का बारहवाँ अध्याय भक्तियोग है। उसका आधार है ग्यारहवें अध्याय का अन्तिम, पचपनवाँ श्लोक। उस श्लोक में भगवान ने भक्ति की कुछ शर्तें बताई हैं, उन शर्तों की ओर जब हमारा ध्यान जायेगा, तब हम समझ पायेंगे। भगवान अर्जुन को अपना विश्वरूप दिखाने के बाद कहते हैं –

मत्कर्मकृत् मत्परमः मद्भक्तः संगवर्जितः।
निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पाण्डव ।।

गीता-११/५५

इस श्लोक में भक्त होने लिए भगवान पाँच बातें कह रहे हैं। तीन बातें भगवान के लिए हैं और दो भक्त के लिए हैं। क्या-क्या हैं? मत्कर्मकृत् – मेरे लिए कर्म कर। जीवन में जो भी कर्म तू कर रहा है, वह मेरे लिए कर। कैसे? आप लोग बड़ी-बड़ी इन्डस्ट्रीज चलाते हैं, व्यापार-व्यवसाय करते हैं। आप रहते कलकते में हैं और दो हजार, पन्द्रह सौ कि.मी. दूर आपके फैक्ट्रीज हैं, आप के शॉप हैं। उनको चलाने के लिए आपके मैनेजर्स हैं, गुमास्ते हैं, पर वे सारे मैनेजर्स, सारे गुमास्ते वहाँ आपके लिए काम करते हैं। वे जो कुछ भी करते हैं, आपको सूचना देकर करते हैं। उन्हें सदा ध्यान रहता है कि उन्हें सारा हिसाब बाबू को देना पड़ेगा। उस कार्य को वे अपना समझकर करते हैं, किन्तु जानते हैं कि यह सब बाबू का काम है। मुनीम अपने मालिक की प्रसन्नता के लिए काम करता है। ऐसे ही यदि हम कर्म को भगवान का कर्म समझकर भगवान की प्रसन्नता के लिये करें, तो वह कर्म मत्कर्मकृत् है।

❖ (क्रमशः) ❖
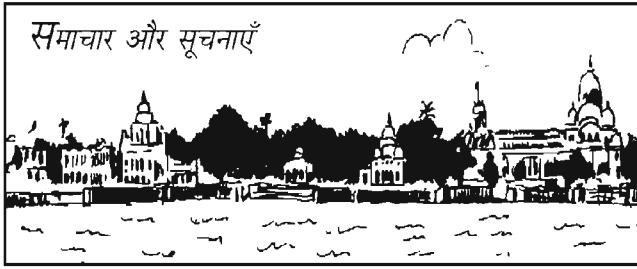
स्वामी विवेकानन्दजी की १५०वीं जन्म-जयन्ती – चतुर्वर्षीय कार्यक्रम का राज्य के मुख्यमंत्री द्वारा उद्घाटन

रामकृष्ण मिशन, बेलूड़ मठ तथा भारत सरकार ने यह योजना बनायी है कि स्वामी विवेकानन्द की १५०वीं जन्म-जयन्ती का उत्सव, जो कि २०१३ में पड़ रहा है, उसे सन् २०१० से लेकर २०१४ – चार वर्षों तक मनाया जाय।

इस उपलक्ष्य में ११ सितम्बर, २०१० को रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर और छत्तीसगढ़ संस्कृति फाउंडेशन, रायपुर के संयुक्त तत्त्वावधान में स्वामी विवेकानन्द जी के द्वारा ११ सितम्बर, १८९३ को शिकागो धर्म-महासभा में प्रदत्त महान व्याख्यान की स्मृति में एक राष्ट्रीय परिसंवाद गोष्ठी का आयोजन विवेकानन्द आश्रम के सत्संग भवन में सायं ६ बजे किया गया। इस ४ वर्षीय कार्यक्रम का उद्घाटन छत्तीसगढ़ के लोकप्रिय मुख्यमन्त्री डॉ. रमन सिंह जी के द्वारा किया गया।

सभा की अध्यक्षता करते हुये स्वामी सत्यरूपानन्द जी ने कहा – "स्वामी विवेकानन्द जी का जीवन बहु-आयामी था। उनकी प्रतिभा, उनके व्याख्यान से सारी पृथ्वी हिल गयी। स्वामी विवेकानन्द जी की शक्ति का उत्स कहाँ है? उनके व्यक्तित्व पर उनकी माताजी का प्रभाव था। उनकी माँ ने उन्हें गोद में बैठाकर उन्हें अँग्रेजी सिखाया। रायपुर में रहकर उन्होंने सम्पूर्ण इतिहास और तर्कशास्त्र को पढ़ा। बचपन से ही स्वामीजी एक महान् सम्राट होने की शक्ति का स्वप्न देखते थे। स्वामीजी श्रीरामकृष्णदेव के पास एक जिज्ञासु होकर गये, शंकालु होकर नहीं। ठाकुर की प्रथम भेंट की घटना से लेकर पाँच वर्षों तक ठाकुर की आज्ञा मानकर उन्होंने प्राणों की बाजी लगाकर साधना की। उन्होंने ध्यान की गम्भीरता का अनुभव किया। काशीपुर में उन्होंने निर्विकल्प समाधि का अनुभव किया। विश्व इतिहास का दूसरा स्वर्णिम पृष्ठ तब आरम्भ हुआ, जब उन्होंने अपने गुरु श्रीरामकृष्णदेव से निर्विकल्प समाधि में सदा डूबे रहने की प्रार्थना की। तब ठाकुर ने उनकी भर्त्सना करते हुये कहा था कि इससे भी ऊँची अवस्था है – सर्वभूतों में ब्रह्मदर्शन। यात्रा के दौरान उन्होंने भंगी के हाथों का चीलम पीकर ऊँच-नीच के भेद-भाव से रहित वेदान्त को व्यवहार में लाया था। खेतड़ी में गणिका गाना सुनकर उसके प्रति मन में आये दुर्भाव के लिये उन्होंने उससे क्षमा माँगी थी। इन सब घटनाओं ने स्वामी विवेकानन्द को महान् बनाया और यह चारित्रिक शक्ति ही उनके शक्ति का स्रोत थी।

"स्वामी विवेकानन्द जी ने कहा कि 'प्रत्येक आत्मा अप्रगट ब्रह्म है। शिवज्ञान से जीव-सेवा करो – जीवे प्रेम करे जेइ जन, सेइ जन सेबीछे ईश्वर। दूसरों के लिये जिओ।' हमारा सम्पूर्ण जीवन दूसरों पर निर्भर है। हम प्राचीन संन्यास के पृष्ठपोषक हैं, निन्दक नहीं। हम लोग पूरी सम्प्रदाय के हैं। सेवा करना हमारा लक्ष्य नहीं है। हमारा लक्ष्य है – आत्मनो मोक्षार्थं। हममें अखण्ड पवित्रता की प्रचण्ड शक्ति है।"

सभा के मुख्य अतिथि छत्तीसगढ़ के सर्वजनप्रिय यशस्वी मुख्यमन्त्री डॉ. रमन सिंह जी थे। उन्होंने कहा – "सबसे पहले मैं इन दोनों वक्ताओं को राज्य की दो करोड़ जनता की ओर से धन्यवाद देता हूँ, जिनके रोचक और सारगर्भित व्याख्यान से श्रोतागण शान्तभाव से इतनी देर तक बैठे रहे। स्वामी विवेकानन्द जी छत्तीसगढ़ की मिट्टी में हजारों साल तक बसे रहेंगे। राज्य में सबके लिये – कक्षा ८, कक्षा १०-१२ या उससे अधिक, जो जिस लायक है, उन सबके लिये एक करोड़ रोजगार की योजना है, जो तीन साल तक चलेगा। स्वामी विवेकानन्द जी को जहाँ प्रथम भाव-समाधि हुई थी, (जो मुख्यमंत्री जी के विधान सभा-क्षेत्र के अन्तर्गत है) वहाँ जन-सहयोग से बहुत शीघ्र ही एक अच्छा स्मारक बनाया जायेगा।"

संगोष्ठी के विशिष्ट अतिथि श्री अशोक वाजपेयी, सचिव ललित कला अकादमी, नई दिल्ली थे। उन्होंने कहा, "स्वामीजी आत्मविश्वास से कहते हैं कि हमने सबको सार्वभौमिकता, सहिष्णुता का पाठ सिखाया। हमें धर्मों की बहुलता चाहिये। स्वामीजी ने तलवार और लेखनी से परिवर्तन का विरोध किया था। उन्होंने मुक्ति की अवधारणा को स्वतंत्रता में बदला। उन्होंने कहा कि गृहस्थ-धर्म को निभाना भी उतना ही पवित्र है, जितना की संन्यासी। आज भी बुद्धदेव सबके लिये निर्वाण की प्रतीक्षा में अथक खड़े हैं। जब गाँधीजी रात्रि में यात्रा कर रहे थे, उस समय बहुत से ग्रामीण उन्हें रास्ता दिखाने के लिये अपने हाथों में दीपक लेकर उनके मार्ग में खड़े थे। ऐसी है हमारी भारतीय संस्कृति!"

संगोष्ठी के मुख्य वक्ता डॉ. इन्द्रनाथ चौधरी, पूर्व सचिव साहित्य अकादमी, नई दिल्ली थे। उन्होंने अपने वक्तव्य में कहा कि स्वामीजी ने आध्यात्मिकता, कर्म, ज्ञान और सेवा की व्याख्या की। उन्होंने सेवा को वेदान्त से जोड़ा। सबमें एकत्व की अनुभूति की। सबको परब्रह्म समझकर सेवा करने की प्रेरणा दी। उन्होंने राजा और गृहस्थ के काम को अपने ऊपर लेकर संन्यासी के रूप में स्वीकार किया। सेवा से ही सामाजिक और आर्थिक विकास सम्भव है। नैतिकता के बिना हमारा प्रजातंत्र सम्भव नहीं है।" **(शेष अगले पृष्ठ पर)**

'विवेक-ज्योति' में वर्ष २०१० ई. के दौरान प्रकाशित लेखकों तथा उनकी रचनाओं की सूची

पिछले पृष्ठ का शेषांश

सभा के संचालक छत्तीसगढ़ उच्च न्यायालय के वरीष्ठ अधिवक्ता श्री कनक तिवारी ने कहा, "स्वामी विवेकानन्द से छत्तीसगढ़ और प्रत्येक भारतवासी धन्य है। यह सौभाग्य की बात है कि स्वामीजी दो वर्षो तक छत्तीसगढ़ की संस्कृति में रहे। स्वामी लोकेश्वरानन्द स्वामी विवेकानन्द जी को लघु भारत ही नहीं, अपितु लघु विश्व कहते थे। शिकागो धर्मसभा को एक वकील ने आयोजित किया था, जिसमें विश्वनाथ दत्त वकील के पुत्र स्वामी विवेकानन्द जी ने भाग लिया था। यह सभा भी एक वकील द्वारा आयोजित हुई है, जिसमें वकील के पुत्र डॉ रमन सिंह की विशिष्ट सहभागिता है। हम आपसे निवेदन करते हैं कि आपके क्षेत्र में आनेवाले स्वामी विवेकानन्द जी के भाव-समाधि स्थल को एक विशेष स्मारक बनाने का सौभाग्य और सुअवसर अपने हाथ से न जाने दें, क्योंकि भगवान ने आपको वे सारी चीजें दी हैं, जिनकी जरूरत है।"

अन्त में विवेकानन्द विद्यापीठ के सचिव श्री ओमप्रकाश वर्मा जी ने आगत सभी अतिथियों एवं सभा को सफल बनानेवाले सभी सहयोगियों का 'रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम' और 'छत्तीसगढ़ संस्कृति फाउडेशन' की ओर से हार्दिक धन्यवाद ज्ञापन किया।

विवेकानन्द विद्यापीठ में विश्व-भ्रातृत्व-दिवस

विवेकानन्द विद्यापीठ, रामकृष्ण परमहंस नगर, कोटा, रायपुर में विश्व-भ्रातृत्व-दिवस का आयोजन शनिवार दिनांक ११ सितम्बर २०१० को पूर्वाह्न ११ बजे विद्यापीठ के सभागृह में किया गया। सर्वविदित है कि १८९३ में इसी दिन ११ सितम्बर को ही स्वामी विवेकानन्दजी ने शिकागो धर्म-महासभा में भाग लेकर हिन्दू धर्म के विश्व-बन्धुत्व और सर्वधर्म-समभाव का सन्देश सारी दुनिया में फैलाया था। उस दिन की स्मृति में ही यह सभा आयोजित की गयी थी। इस कार्यक्रम के मुख्य अतिथि छत्तीसगढ़ के महामहिम राज्यपाल माननीय श्री शेखर दत्त जी और विशिष्ट वक्ता श्री इन्द्रनाथ चौधरी, सचिव, सस्ता साहित्य मण्डल, नई दिल्ली थे। कार्यक्रम की अध्यक्षता रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम के सचिव स्वामी सत्यरूपानन्द जी ने की।

❑❑❑